प्रथम संस्करण २१०० मार्च '५१

मूल्य |||≡)

492

प्रकाशक—
सर्वोदय साहित्य संघ,
काशी (बनारस)

मुद्रक—
परेशनाथ घोष,
सरला प्रेस, बनारस।

भूमिका

आज दुनिया एक बार फिर परमाणु बमों से टकराकर विनाश के गर्त में नष्ट भ्रष्ट हो जाना चाहती है। १९१४ ई०, १९३९ ई० और अब १९५१ ई०—बार बार महायुद्धों की विभिषिका संसार को विदीर्ण करने लगी है। दूसरा पहले से भी भयंकर और प्रचण्ड रूप धारण कर रहा है; विध्वंस का क्षेत्र भी क्रमिक विस्तार के साथ समस्त भूतल को एक साथ ही समेट लेना चाहता है। तो क्या हम सचमुच प्रलय की ओर अग्रसर हैं?

धीरे धीरे, जगह जगह, और फिर आग सहसा विश्व-युद्ध के रूप में भड़क उठती है। परंतु इसी के साथ साथ शांति का विपुल प्रयास भी जारी ही है। कोई व्यक्ति, कोई राष्ट्र आत्म हत्या नहीं करना चाहता—पर आग किसी के बुझाये बुझ नहीं रही है। क्यों?

इन सवालों को साफ और सही तौर से समझे बिना, समझकर वैसा ही रास्ता आविस्कार किये बिना, शान्ति का नाम लेना भी सिर्फ धोखा देही होगी।

इसलिए जरूरी है कि हम गहराई के साथ इन प्रश्नों पर विचार करें। शांति के पीछे शान्ति के सिद्धांत हैं, दर्शन है, विज्ञान है, शांति की योजनाएँ हैं। उनको एक एक करके समझना और फिर वैसा ही कार्य क्रम बनाना होगा, उसी आधार पर समाज रचना करनी होगी, अन्यथा जवाहर, ऐटली, ट्रूमन और स्टालिन, कोई भी शांति स्थापित कर नहीं सकेगा।

शांति के बिना सुख-समृद्धि असंभव है; दुखी और दरिद्र समाज में शांति की स्थापना हो ही नहीं सकती। इसलिए स्पष्ट है कि शांति के लिए दुख और दरिद्रय को मिटाना हमारी पहली शर्त होनी चाहिये।

दुख और दरिद्रय का निवारण शोषण के आधार पर नहीं, केवल प्रेम और सहयोग के द्वारा ही संभव हो सकता है। दोनों के दो रास्ते हैं, दो तरीके हैं, और इन तरीकों के पीछे दो अलग अलग विचार धाराएँ हैं। इन विचार धाराओं को लेकर आज संसार में अनेक वाद-विवाद खड़े हो रहे हैं परंतु वस्तुस्थिति यह है कि सबके मूल में केवल दो ही विचार धाराएँ हैं,— एक है शोषक और दूसरी शोषण हीन, शोषण हीन अर्थात् अहिंसक। एक जड़ है तो दूसरी चेतन। इन दोनों को लेकर दो प्रकार के समाज की रचना होती है दो प्रकार की सभ्यताएँ, दो प्रकार की संस्कृतियाँ बनती हैं।

आप दोनों की एक साथ हिमायत नहीं कर सकते। आप गांधी की दुहाई देकर स्टालिन के तरीक़े नहीं अपना सकते। अमेरिकन केन्द्रवाद के पिछलग्गू होकर भारतीय विकेन्द्रीकरण का दम भरना महज़ दुर्बुद्धि का परिचायक है। दुनिया अगर एक से उत्पीड़ित है तो भारत को दुहरे भ्रम का शिकार बनाया जा रहा है। वनस्पति की औद्योगिक माया में गोपालन की कल्पना करना सन्यपात नहीं तो क्या सद्बुद्धि का लक्षण है?

आप इन बातों पर ग़ौर कीजिये और फिर तै कीजिये कि आप क्या करना चाहते हैं, किधर जाना चाहते हैं?

रा० कृ० श०

सरदार वल्लभभाई

जड़वाद

(१)

आज चारों ओर यही शोर है कि दुनिया तरक्की कर रही है। सबूत में रेल, तार, हवाई जहाज़, रेडियो, रडार, चौड़ी चौड़ी सड़कें, गगनचुम्बी इमारतें, शीशे के महल, महलों की छतों पर बाग़ और हवाई अड्डे, पेन्सिलिन अणु शक्ति—अनंत, असंख्य कृत्य और कृतियों का उल्लेख किया जाता है। कोई भी अक़लमंद आदमी इन चीज़ों की असलियत से इनकार नहीं कर सकता। परंतु इन्हें हम यदि मानव की उन्नति का प्रमाण मानें तो इसका यह भी मतलब होगा कि मानव समाज कल से आज अधिक सम्पन्न और समृद्ध, अधिक स्वस्थ और अधिक सुखी है। परंतु सचाई यह है कि आज की दुनिया कल से अधिक परेशान और अधिक दुखी है। रोगों की रफ्तार डाक्टरी आविष्कारों से बहुत तेज़, इतनी तेज कि डाक्टरों के क़ाबू के बाहर है। भूख और दरिद्रता के बढ़ते हुए विस्तार से सारा संसार डगमग डाँवाडोल हो रहा है। मनुष्य की हिंसा और वर्बरता का अंत कहीं नजर नहीं आता। हिरोशिमा में ऐटम बम तथा हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की नारकीय लीलाएँ जंगली जानवरों को भी शर्मिन्दा कर देने के लिए काफ़ी हैं। क्या तरक्की का यही मतलब होता है? अगर इसीको तरक्की कहते हैं तो अच्छा है कि लोग ऐसी तरक्की से बाज़ आयें। परंतु मज़ा तो यह है कि लोग बाज़ आना चाहते नहीं। बाज़

आने के बजाय खंदक में और भी गहरे उतरते जा रहे हैं। एक युद्ध से अभी पिण्ड भी नहीं छूटा था कि दूसरे की अग्नि-शिखाएँ धधकने लगी हैं। सारा संसार सुरक्षा के बजाय सर्वनाश की ओर दौड़ रहा है।

आज दुनिया के सामने एक बार फिर यही सवाल है कि इसे परमाणु बम के द्वारा बर्बाद कर दिया जाय। क्या उन्नति का यही स्वरूप होता है ? क्या उत्कर्ष के मानी विध्वंस होते हैं ?

कुछ लोगों का कहना है कि संसार की व्यवस्था भ्रष्ट हो गयी है इसीलिए लोग वैज्ञानिक उन्नति के बावजूद भी मुसीबत में फँस गये हैं। इन लोगों का कहना है कि सुख-समृद्धि के साधनों पर कुछ थोड़े से साधन सम्पन्न लोगों का कब्ज़ा है और वे बाक़ी लोगों का मन माना शोषण करते हैं। इसलिए दुनिया में समाजवाद या समूहवाद की स्थापना से सारी मुसीबत अपने आप दूर हो जायेगी। इनके समाजवाद और समूहवाद का तात्विक विश्लेषण करने के पहले हमें परिस्थिति को ज़रा और भी गहराई से समझ लेना चाहिये, क्योंकि रोग को अच्छी तरह समझे बिना उसके निदान की सार्थकता के सम्बन्ध में कुछ राय देना कठिन होगा।

उपर्युक्त विचार रखनेवालों के सही पक्ष को निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है :—

(१) संसार का वर्गभेद मिटाकर इसे एकमात्र श्रमिक-वर्ग के साँचे में ढाल देना चाहिये। स्वभावतः सत्ता भी इसी श्रमिक-वर्ग के हाथ में रहनी चाहिये। मार्क्स को इस विचारधारा का उद्गम माना जाता है। यह पक्ष समूहवादियों का है। ये लोग नमूने के तौर पर रूस को पेश करते हैं।

रूस में शोषण है या नहीं, किस हद तक है, कैसा है, इन विवादात्मक प्रश्नों में उलझे बग़ैर एक बात तो प्रत्यक्ष रूप से संसार के सामने है ही कि रूस में भी जनता का नहीं, जनता के प्रतिनिधि कहे जाने वाले कुछ थोड़े से चुने हुए लोगों का ही राज है जिनके हुक्म पर, जिनके इशारों और इच्छा पर बाक़ी सब लोगों को जीना और मरना पड़ता है। यह श्रमिक-वर्ग के ऊपर नियंत्रण रखने वाला व्यवस्थापक वर्ग है। यहाँ आदमी की कीमत कल पुर्जों से अधिक नहीं। यहाँ जो आदमी व्यवस्थापक वर्ग की स्वेच्छा के खिलाफ जीना चाहता है, वह देशद्रोह और दण्ड का भागी बनता है। यहाँ मनुष्य की स्वतंत्रता महज़ एक मज़ाक है। वास्तव में यहाँ मनुष्य जैसी किसी स्वतंत्र चेतन इकाई का कोई स्थान ही नहीं है।

समाजवादियों का पक्ष रूस के समूहवादियों से कुछ भिन्न है; भारत के समाजवादियों का पक्ष अन्य समाजवादियों से कुछ अधिक भिन्न हो सकता है। इन पर गांधी की कुछ अधिक छाप पड़ी बतायी जाती है, परंतु ये लोग भी मार्क्स को अपना प्रणेता मानने से इनकार नहीं करते।

इस लिए हम इन सब को मोटे तौर एक ही श्रेणी में रख सकते हैं।

(२) आज की दुनिया को उन्नतिशील बताने वालों का कहना यह है कि इन्सान ने तरक्की के जो सामान तैयार किये हैं उनका दुरुपयोग होने से ही दुनिया दुखी हो गयी है। इस बात को समझने के लिए तरक्की के इन सामानों पर ज़रा ग़ौर से नज़र डालिये।

पहले हम गुड़ खाया करते थे। परंतु आज आदमी ने गुड़

में तरक्क़ी करके सफ़ेद दानेदार चीनी बना दी है। यह चीनी शरीर से उस चूने (कैलशियम) को सोख लेती है जिससे हड्डी बनती है। हड्डी कमज़ोर हो जाने से शरीर का सारा ढाँचा ही ख़राब हो जाता है। दाँतों का व्यापक रोग, दाँतों का गिर जाना, आदमी का घटता हुआ क़द, घटती हुई उम्र—यह सब इसी गुड़ की तरक्क़ी के परिणाम हैं।

पहले हम घी खाते थे। आज गाय पालकर मक्खन और घी निकालने की परेशानी को हमने वैज्ञानिक तरक्क़ी के द्वारा दूर कर दिया है। अब हम बिना गाय बैल के ही, कारख़ानों में घास-पात से वनस्पति घी बनाने लगे हैं हमारी इस तरक्क़ी ने केवल रोगों का पिटारा ही नहीं खोला है बल्कि इनसान की मर्दानियत को भी ख़तम कर दिया है।

यह तो है हमारी तरक्क़ी का हाल, फिर भी लोग इसे तरक्की ही कहे जाते हैं। कहते हैं कि वनस्पति घी से नामर्द हो गये तो कोई हर्ज नहीं; हम बन्दर मारकर नामर्द को फिर मर्द बना देंगे—मतलब यह कि वनस्पति घी खाये जाओ। कहते हैं वनस्पति घी और सफ़ेद चीनी जैसी चीज़ों के खाने से अगर आदमी अंधा और बहरा हो गया है तो परेशानी किस बातकी ? विज्ञान ने ऐसे चश्मे और औज़ार बना दिये हैं जिसकी मदद से वह देख और सुन सकता है। कुछ भी हो, कहेंगे तरक्क़ी ही, भले ही असली खोकर नक़ली के सहारे काम चलाने की कोशिश करनी पड़े।

बात यहीं नहीं ख़तम होती। इस तरक्क़ी करने वाले आदमी की दिमाग़ी असलियत को भी ज़रा देखिये। कल जो आयुर्वेदाचार्य हमारे सम्पूर्ण शरीर-शास्त्र से परिचित था और हमारे स्वास्थ्य का अचूक निदान और विधान करता था आज वह

तरक्की करके बहुत बड़ा डाक्टर बन गया है, परंतु बेचारा यह डाक्टर शरीर के तंतुओं से, शरीर की नसों से, शरीर के अंग-प्रत्यंगों से अनभिज्ञ ही है। इसे हम 'आई-स्पेशलिस्ट', 'इयर स्पेशलिस्ट', 'थ्रोट स्पेशलिस्ट'—न जाने कैसे कैसे स्पेशलिस्ट कहकर गर्व करते हैं। यानी कल तक जो सारे शरीर को जानता-पहचानता था, आज वह अधिक से अधिक एकाध हिस्से को पकड़ कर "विशेषज्ञ" बन बैठा है।

भौतिक भण्डार और ज्ञान-यज्ञ के साथ ही इस उन्नतिशील मानव की योजनाएँ उसी प्रकार अस्त व्यस्त हैं। सफेद चीनी का हमने जिक्र किया है। इस दूषित वस्तु को तैयार करने के लिए देश में बड़े बड़े कारखाने खड़े करने पड़ते हैं। इन कारखानों को चालू रखने के लिए देश के एक बहुत बड़े उपजाऊ भाग को बेकार कर देना पड़ता है—कुछ हिस्से में तो कारखाने बनते हैं और कुछ में गन्ने पैदा किये जाते हैं। खाद्यान्नों की वेदी पर गन्ने की खेती का मतलब है देश में भूख की भयंकर समस्या को उत्पन्न करना। इतना ही नहीं—कारखानों में लगने वाला जनवर्ग कृषि और अन्य उपयोगी उद्योगों को छोड़ कर ही एकत्र हुआ है। जो वर्ग गन्ने की खेती में लग रहा है वह भी मिल मालिकों (व्यक्तिगत या सरकारी) की मर्ज़ी का क्रीतदास मात्र रह जाता है। ठीक यही दशा रूई और जूट की है। इसी प्रकार वह प्रत्येक कार्य और प्रत्येक बात में उन्नति कर रहा है। बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, घोड़ा, अच्छी से अच्छी सवारियों को ठुकरा कर वह रेल और मोटर की तेज़ी पर आया। परंतु इनकी तेज़ी से भी उसका जी नहीं भरा। उसने तेज़ से तेज़ हवाई जहाजों के जरिये झटपट दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में उड़ जाने की तरकीब की

है। इन तरकीबों की सीधी सादी लागत पर भी आपने ग़ौर किया है ? दुनिया की अच्छी से अच्छी चौरस और उपजाऊ ज़मीन के लाखों करोड़ों एकड़ को घेर कर रेल और हवाई अड्डे बना दिये गये हैं—यानी दुनिया इस बड़े भूभाग से मिलने वाली अतुल सम्पत्ति से वञ्चित कर दी गयी है, केवल इसलिए कि हमारा उन्नतिशील मानव फुर से एक कोने से दूसरे कोने में पहुँच जाये, और चाहे तो वह मास्को से उड़कर आसानी के साथ न्यूयार्क और टोकियो को एटमबमों के ज़रिये बरबाद कर दे। मोटर, रेल, हवाई दुर्घटनाओं में संसार में हर साल जितनी जानें जाती हैं उतनी संसार के बड़े से बड़े महायुद्धों में भी नहीं गयीं।

यह तो है इस तरक्क़ी करने वाली दुनिया का एक छोटा-सा नक़शा। यदि इस नक़शे को पूरी तरह से भर दिया जाये तो कितनों की घबड़ाहट से ही अक़्ल ख़राब हो जाये।

संक्षेप में, सारी बात का यही हाल है; सारी दिशा इसी प्रकार शून्य है। सारी सृष्टि एक भयंकर धोखा बन गयी है। असलियत कुछ है; समझते हम कुछ और हैं। सच पूछा जाये तो आज दुनिया में गांधी और मार्क्स की नहीं सच और झूठ की लड़ाई छिड़ी हुई है। सच सच है, झूठ क्या है, यदि यह बात हम समझ लें जो बहुत बहुत मुश्किल नहीं, तो फिर हमारे लिए यह तै करना कुछ अधिक सरल होगा कि संसार में मनुष्य को क्योंकर व्यवहार करना चाहिये, या यों कि अनेकों वाद-विवाद, अनेकों विचारधाराओं का द्वन्द्व अपने आप कम हो जायेगा।

इन प्रश्नों को सही तौर से समझने के लिए इनके तात्विक स्वरूप पर विचार करना होगा। मनुष्य कब पैदा हुआ, कैसे पैदा हुआ, इस सम्बन्ध में विवाद हो सकता है, परंतु यह सभी मानते हैं कि मनुष्य ने संसार में रहकर बहुत कुछ विचार किया है। सारे संसार में, सभी युगों में, मनुष्य ने विचार किया है और इन विचारकों की देन को लेकर संसार काम करता रहा और आगे बढ़ता रहा है। संसार की सभ्यताओं में, जो मौजूद हैं या जो मिट गयीं, इन्हीं विचारों की नींव पड़ी है। इस प्रकार संसार की बनावट में असंख्य विचार-धाराओं की कड़ियाँ नजर आयेंगी, परंतु सब उसी एक मूल प्रश्न के इर्द गिर्द चक्कर काटती रही हैं— जड़ और चेतन।

जो कुछ हमारी इन्द्रियों को गोचर होता है उसे नाम कुछ भी दें, उससे इन्कार किसी को नहीं हो सकता। चेतन-सत्ता को जीव, ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, पुरुष, परमेश्वर, ईश्वर— असंख्य, अनंत नामों से लोगों ने पहचानने की कोशिश की है। किसी दृष्टि से, किसी रूप, किसी दिशा से देखें, जब तक किसी चेतन-सत्ता का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, हमें कोई विशेष विरोध नहीं होता। विरोध तो उस समय उत्पन्न होता है जब कुछ लोग जड़ के सिवा किसी चेतन-शक्ति को स्वीकार ह नहीं करते। ऐसे लोगों को नास्तिक वर्ग में रखा जा सकता है। मार्क्स, जिसकी विचारधारा ने आज सारे संसार को लुभा रखा है, इसी श्रेणी का विचारक था। मार्क्स के देश वाले जब बिल्कुल जंगली और बर्बर पशु के समान थे, उससे भी हजारों वर्ष पहले भारत के ऋषि और महर्षियों ने इन जड़

बनाये रखने के लिए इसे इन तीनों शब्दों का संयुक्त साइन-बोर्ड लिये फिरना होगा क्योंकि भारतीय दर्शन की सांख्य-शाखा ने प्रकृति को ही सृष्टि का उपादान कारण मान कर मार्क्स के भौतिकवादी तथा द्वन्द्वात्मक गुणों को पहले ही स्वीकार कर रखा है, परन्तु अनेक जीवात्मा (पुरुष) का अस्तित्व मान लेने से चेतना सांख्य के लिए प्रकृतिस्थ रासायनिक क्रिया नहीं, वरन् एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में प्रकट होती है। बौद्ध भी नास्तिक हैं, परन्तु मार्क्सवादियों के समान द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी नहीं। इस प्रकार मार्क्स का भौतिकवाद अपनी अमिश्रित विशेषता रखता है जिसने संसार के दुःख-दारिद्रय को मिटाने का अभूतपूर्व दावा पेश किया है।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक पद्धति के अनुसार हमारा यह जगत् और इस जगत् के सारे व्यवहार—सब मूल प्रकृति के द्वन्द्वात्मक-क्रम से ही अस्तित्वमान होते हैं। वन, पर्वत, पशु, पक्षी, मनुष्य और मनुष्य के अन्तःकरण –सभी उस मूल तत्त्व (मैटर) के नित्य अनन्त द्वन्द्वात्मक-कारण से निर्मित होते हैं। अभिप्राय यह कि मनुष्य और पत्थर—दोनों एक ही न्याय के भागी और भोगी हैं। यहाँ जड़ और चेतन के उद्भव तथा अस्तित्व में कोई मौलिक भेद नहीं। दोनों का आदि और अन्त उसी एक शाश्वत द्वन्द्व-न्याय के अंतर्गत चलता रहता है। परिणामतः जहाँ चेतना की स्वतंत्र सत्ता ही नहीं, वहाँ व्यक्ति का समूह से स्वातंत्र्य क्योंकर समझना चाहिये ? इसीलिए अरस्तू और अफलातून से हीगेल और हीगेल से मार्क्स और ऐंगेल्स ने हेर-फेर कर, व्यक्ति को समाज का अंग मात्र स्वीकार किया है। जहाँ जड़ और चेतन में कोई मौलिक अन्तर ही नहीं वहाँ व्यक्ति की दार्शनिक परिभाषा इसके अतिरिक्त और

हो ही क्या सकती है ? स्वभावतः मार्क्सवादी व्यक्ति को लेकर दार्शनिक जाल खड़ा करना व्यर्थ ही नहीं, अनर्थ भी समझते हैं। व्यक्ति की कोई स्वतंत्र चेतन-सत्ता ही नहीं तो उसके गुण, कर्म, स्वभाव, ऐषणा तथा कर्तृत्व आदि की मर्यादा कोई क्रियात्मक महत्व नहीं रखती। यहाँ सारे प्रश्न का एक मात्र उत्तर यही है कि सब उसी मूल प्रकृति का द्वन्द्वात्मक खेल है। इसीलिए वह निःशंक होकर कहता है कि—"जगत् की प्रगति किसी निश्चित दिशा में नहीं है और न उसका कोई निश्चित उद्देश्य है" ('व्यक्ति और राज' पृष्ठ ४५, श्री सम्पूर्णानन्द)। सृष्टि-क्रम के संबंध में मार्क्स के इस मत को लेकर मार्क्सवादी अपनी ही "वैज्ञानिक शैली से चलता है।···वह देखता है कि प्रकृति किधर झुकनेवा ी है, और उसके अनुसार कार्य करता है, उससे लाभ उठता है" (व्यक्ति और राज, पृष्ठ ५५)। यहाँ सबसे पहले तो इसी बात को समझ लेना चाहिये कि मार्क्स के ही इस उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लेने से मार्क्स के ही एक दूसरे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत—"प्रश्न यह है कि इस जगत् को परिवर्तित कैसे किया जाय" ('समाजवाद' पृष्ठ ७३, श्री सम्पूर्णानन्द)—का खण्डन हो जाता है। जो "वैज्ञानिक" परिस्थितियों का मुहताज है वह जगत् को परिवर्तित करने की कल्पना भी कैसे कर सकता है ? इन दो विरोधी बातों में से एक को गलत होना ही होगा।

इस स्वच्छेदक (सेल्फ कंट्राडिक्शन) को छोड़कर, हमारा प्रयोजन अनुच्छेद के प्रारम्भिक वाक्य से ही है—"जगत् की प्रगति किसी निश्चित दिशा में नहीं है, उसका कोई निश्चय उद्देश्य भी नहीं।" इस प्रकार प्रश्न यह नहीं कि 'जगत् को

परिवर्तित कैसे किया जाय", बल्कि वास्तविक प्रश्न यह हो जाता है कि जब सारी सृष्टि ही निरुद्देश्य है तो उसके किसी परमाणु अर्थात् किसी व्यक्ति की जीवन यात्रा क्योंकर उद्देश्य बद्ध हो सकती है ? फलतः व्यष्टि और समष्टि—दोनों ही किसी डिब्बे में भरकर खड़खड़ाते हुए, गति तथा क्रमहीन, रोड़ों के समान हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह संसार विकासमान अर्थात् आगे पीछे होकर भी, नित्य निरन्तर, एक उच्चतर और फिर उच्चतम दशा की ओर अग्रसर है। जब इस जगत् की कोई निश्चित दिशा ही नहीं, कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं, तो इस सृष्टि-क्रम को समझा भी कैसे जा सकता है ? निरुद्देश्य कार्यों में तादत्म्य (कोहेरेन्स) कैसे स्थापित हो सकता है ? यह तो हुआ समस्या का प्रश्नात्मक पहलू। इसी का प्रस्तावात्मक पहलू यह होगा कि सृष्टि की स्वभाव सिद्ध परिवर्तनीयता को सुखसाध्य कैसे बनाया जाय ? और यदि ऐसा नहीं है, यदि हमारी कोई दिशा ही नहीं, कोई निश्चित उद्देश्य ही नहीं, कोई आदर्श या लक्ष्य ही नहीं, तो फिर भूत और भविष्य का संदर्भ भी कैसे स्थापित हो सकता है ? और यदि वर्तमान का निर्देशन ही असम्भव है तो इन सारे आर्थिक और अर्थशास्त्रीय वितण्डों का प्रयोजन भी क्या ?

(३)

इस प्रकार सारे संसार को, स्पष्टतः, दो, और केवल दो ही, वर्गों में बाँटा जा सकता है—एक तो वे लोग जो सृष्टि को किसी स्वतंत्र चेतन-सत्ता से शून्य समझते हैं और दूसरे वे जो जड़ प्रकृति के साथ, उसके बीच या उसके ऊपर, एक चेतन-सत्ता का

भी अस्तित्व स्वीकार करते हैं। आज दुनिया में जो कम्युनिस्ट या समूहवादी, पाकिस्तानी, समाजवादी, राष्ट्रवादी या नाना प्रकार के वाद-विवादी नज़र आते हैं उन सबको इसी एक कसौटी पर रखकर जड़वादी या चेतनवादी के भेद से अलग अलग दो हिस्सों में रखा जा सकता है। और इसी एक निर्णायक सिद्धांत के आधार पर सारी दुनिया की शकल बन और बिगड़ रही है, सारी दुनिया का संगठन विघठन हो रहा है।

देखा जाये तो जड़ और चेतन, दो प्रकार की दृष्टि रखने के कारण संसार की सारी समाज-व्यवस्था भी इन्हीं आकार-प्रकार को लेकर खड़ी होती है।

इस समय संसार का अर्थ-विधान दो प्रमुख वर्गों में विभक्त है : पूँजीवाद और समूहवाद । पूँजीवाद का सामाजिक महत्त्व व्यक्ति को एक निर्बाध स्वच्छन्दता प्रदान करने में ही निहित है। इसे "लैसेर-फेयर" कहा जाता है अर्थात् प्रत्येक अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार जीवन में अवसर लेने के लिए बिल्कुल निर्बन्ध और स्वच्छन्द है। इस प्रकार बल, चातुरी, षड्यंत्र अथवा और किसी भी सम्भव रीति से उसके स्वप्राप्त साधनों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसे व्यक्तिवाद भी कहा जाता है, परन्तु यह पश्चिमी ढंग का व्यक्तिवाद है जिसमें नैतिकता को कोई स्थान नहीं। भारतीय विचार-धारा भी समूहवादी के विरुद्ध व्यक्तिवादी है क्योंकि यह व्यक्ति की चेतन-सत्ता पर ही अवलम्बित है। परन्तु पश्चिमी और पूर्वी व्यक्तिवाद में महान् अन्तर है : एक जड़वादी है तो दूसरा चेतन। परिणामतः दोनों को लेकर दो प्रकार की समाज रचना, दो प्रकार की सभ्यता की सृष्टि हुई है—केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रापसारी। एक ओर

यदि एक विन्दु को केन्द्र मानकर उसके लिए एक आयतन तैयार किया जाता है तो दूसरी ओर पूर्व-स्थित आयतन के लिए, आवश्यक केन्द्र स्थापित कर दिया जाता है। केन्द्र द्वारा संचालित होनेवाले आयतन का अस्तित्व केन्द्रों के साथ ही बनता बिगड़ता रहता है। रोम और बेबीलॉन की सभ्यताएँ इसी प्रकार लुप्त हो चुकी हैं। परन्तु इधर यह बात नहीं—हस्तिनापुर और दिल्ली मिट्टी में मिल गए फिर भी भारतीय सभ्यता सदा सर्वदा जीवन दायिनी बनी रही। उसे यदि हम केन्द्रित अर्थात् शहरी पद्धति कहें तो इसे हम विकेन्द्रित अथवा ग्राम्य सभ्यता ही कहेंगे। यहाँ हम इसी पर विचार कर रहे हैं।

मनुष्य हो या पशु, आर्थिक स्वार्थ से ही प्रेरित होकर वह किसी समाज या संघठन का रूप धारण करता है। भोजन, वस्त्र या निवास की व्यवस्थित पूर्ति के लिए वह जब सामूहिक और सम्मिलित प्रयत्न करता है तब एक संगठित दल में कार्य करना उसके लिए नितांत आवश्यक होता है। प्रत्येक समाज संगठन का यही प्रारंभिक कारण और मूल मन्त्र है। दलबद्ध हो जाने पर फिर बाह्य आक्रमणों तथा प्राकृतिक प्रकोपों (हवा, तूफान, महामारी) का सफल सामना करने में वह अपने को समर्थ पाता है। संगठित और दलबद्ध अवस्था में धीरे-धीरे उसके कार्य और व्यवहार की एक निश्चित परिपाटी बन जाती है; उसकी व्यक्तिगत नीति और उसके विचार सामूहिक हित और पारस्परिक सहयोग की भावनाओं से प्रतिपादित होते हैं जो सैकड़ों सहस्रों वर्ष, पुश्त-दर-पुश्त, आचार-विचार, कार्य-व्यवहार, धर्म और नीति के चक्र में पड़कर संस्कार का रूप धारण कर लेते हैं। या यों कहिये कि हमारी अपनी एक सभ्यता बन जाती है।

प्रारम्भ में मनुष्य प्राकृतिक देन पर ही निर्भर था; धीरे-धीरे वह प्रकृति को अपने वश में करने लगा और अपने अनुकूल उत्पत्ति भी करने लगा,—वह किसान या खेतिहर बना। इसे मानव-समाज का दूसरा युग कहा जा सकता है। परन्तु मनुष्य की उत्पादक प्रेरणा और प्रकृति पर स्वामित्व की अभिलाषा अपनी निरन्तर गति से जारी थी; वह एक क़दम और आगे बढ़ा; उत्पादन में उसने मानव कृतियों की भरपूर सहायता ली; वह साधारण अवज़ारों से बढ़कर कल-पूर्ज़ों द्वारा काम करने लगा; मशीन और कारख़ानों का प्रभुत्व स्थापित हुआ और इसे अब हम व्यावसायिक युग कहते हैं। यहाँ आकर संसार स्वभावतः दो दल में विभाजित हो गया:—

(अ) वह, जो मशीन और कारख़ानों के मालिक हैं तथा जिनका जीवन-यापन कल-कारखानों पर अवलम्बित है। कारखानों में दूर-दूर तथा देश-विदेश से कच्चा माल लेकर उपज होती है और उसमें कार्य करने वाले भी विभिन्न स्थान, प्रान्त और देश के होते हैं। केन्द्रीकरण कारखानों का स्वाभाविक गुण है। उपज और जीवन-व्यापार थोड़े से स्थल में केन्द्रित हो जाता है। केन्द्रित उपज की खपत भी स्वभावतः भिन्न-भिन्न स्थानों में केन्द्रित हो जाती है जो हमें बड़े-बड़े बाज़ार, क़स्बे और शहर के रूप में दृष्टि-गोचर होते हैं। कारखानों की विराट् उपज को सफल बनाने के लिए उनके वाहक और साधक भी स्वभावतः विराट् होते हैं। रेल तार, जहाज़, बिजलीघर, फिर इनके अपने बड़े-बड़े कारखाने और उन कारखानों के मज़दूर, मज़दूरों के घर, अस्पताल, खेल, तमाशे, स्कूल इत्यादि। इनकी रक्षा और नियन्त्रण के लिए पुलिस और सेना, अदालत और हाईकोर्ट, मुंसफ़ी और जजी, स्थावर और जङ्गम की जमघट ने एक नई

ही दुनिया का नमूना पेश कर दिया है। उत्पत्ति का उत्तरदायित्व कल-कारखानों के मालिकों पर है ; उत्पादन का साधन भी उन्हीं के हाथ में है। लोगों को कल-कारखानों के चारों ओर, उनके सहारे, सङ्गठित बस्ती में, कल-कारखानों के क्रमानुसार जीवन व्यतीत करना अनिवार्य हो गया है। रेल और ट्राम, कब और कहाँ से आती-जाती हैं—हमें उन्हीं के आप-पास, उसी समय पर चलना फिरना पड़ता है, बसना होता है, और अपना कार्य-क्रम बनाना पड़ता है। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, अङ्गरेज़, अमेरिकन, जापानी, पार्सी या यहूदी—सबके सम्मुख यही एक प्रश्न है। अब धर्म या जाति कोई वस्तु नहीं। कारखाने कब और कैसे चलते हैं—सबको उसी समय जागना और सोना पड़ेगा, रहन-सहन भी उसी हिसाब से बनानी पड़ेगी। सारांश, कल-कारखानों ने हमारे जीवन को इस प्रकार आच्छादित कर लिया है कि हम और हमारे नीति-धर्म, सभी में मशीनों की सञ्चालक प्रेरणा है, 'कल' की स्फूर्ति है। हम एक नयी गुलामी में जकड़ दिये गये हैं—मशीनों की गुलामी। रूस का समूहवादी और जापान का सैनिक, कोई भी इस मशीन के चंगुल से स्वतंत्र नहीं।

(ब) दूसरी ओर है चरखा, करघा, तेल का कोल्हू, हल, बैल, गाड़ी, और खलियान वाला किसान और मज़दूरों का स्वच्छन्द ग्राम्य जीवन जो 'ट्राफिकरूल' और 'ट्रेस-पास' के शिकञ्जों से मुक्त, टेलीफ़ोन की चीख़-पुकार और मोटर-रेल तथा ट्राम के शोर-गुल, खतरे और उलट फेर से दूर, सरल जीवन की साकार प्रतिमा बना हुआ है। यहाँ हवाई जहाज़ पर उड़ते फिरने [illegible]

इन्हें कोई असुविधा नहीं प्रतीत होती। यदि गाँव वाले अदालतों में भरे रहते हैं, तो केवल इसलिए कि शहरी सभ्यता का आर्थिक बोझ इनके सिर है और उसे हलका करने के लिए सरकारी क़ानून उन्हें हठात् जजों और हाईकोर्ट या तहसीलदार की तहवील में घसीट लाते हैं। बाज़ार का प्रतिक्षण बदलने वाला उतार-चढ़ाव या निरन्तर दलालों की चख़-चख़ उसे परेशान नहीं करता। जितनी ही वह इससे दूर है, उतना ही वह सुखी है।

मशीनों का आविष्कार ही समय और परिश्रम की बचत के लिए हुआ था और उनका सञ्चालन तथा स्वामित्व स्वभावतः इने-गिनों के हाथ में है। उत्पादन और मुनाफ़ा, यहाँ यही दो यम और नियम हैं अर्थात् कम से कम लागत और अधिकाधिक मुनाफ़ा। लागत के नाम पर मज़दूर और उनकी मज़दूरी पर ही सदा ज़ोर डाला जाता है। कम से कम लोग, कम से कम मज़दूरी और समय में अधिकाधिक उपज करें—यह है मुनाफ़े का सीधा सा मार्ग। मुनाफ़ा मालिकों का, दुःख मज़दूरों का, यह है पूँजीवाद। समूहवाद में भी कल-कारखानों की मालिक सरकार है। एक ओर वैयक्तिक तो दूसरी ओर सरकारी अधिकार है। सार्वजनिक जीवन कहीं भी स्वतंत्र नहीं। नात्सी और फ़ासिस्टी विधान में मज़दूरों के बजाय मध्यम श्रेणी का प्रभुत्व हुआ। उत्पादन-क्रम और जीवनाधार वही रहा--मशीन; केवल अधिकार भर बदलते रहे।

यह सारे विधान जड़ अर्थात् "शहरी" हैं। आर्थिक परेशानियाँ इनकी विशेषता है। यही कारण है कि भरे भण्डारों के विपरीत भी भूख और रोग फैल रहे हैं। न्यूयार्क में प्रत्येक बाइसवाँ व्यक्ति पागलखाने में है। और क्या चाहिये? भारत में हैज़े और ताऊन का प्रकोप इतना भयङ्कर नहीं, जितना अमेरिका का तलाक़, गर्भपात और उन्माद रोग! यह है शहरी

सभ्यता का दिग्दर्शन। शोषण दमन और हिंसा इसकी विशेषता है। दूसरों को निचोड़कर स्वयं पनपना—यहाँ इसी में जीवनरस है। केन्द्रीयकरण इसकी गति-गीत है। चारों ओर से सिकुड़-सिकुड़ कर थोड़े में भरते जाना और केन्द्राधिपतियों के हुकूमत को ही जीवन का क़ानून समझ कर जीवित रहना—जीवन व्यापार बन गया है। लोगों की कठिन कमाई मिल और मशीनों के नक़ली माल से पेट और तन ढकने भर को भी नहीं; उस पर से चुङ्गी, मालगुजारी, हाउस-टैक्स, वार-टैक्स—प्युनिटिव्-टैक्स, इनकम-टैक्स, प्राफिट-टैक्स, सुपर-टैक्स इत्यादि, न जाने कितने टैक्स देने पड़ते हैं।

विलायत की एक मिल ने लाखों जोड़े जूते बनाकर भारत भेज दिये हैं। काशी में बसनेवाला एक बाबू दूकान पर पहुँचता है और किसी न किसी जूते में पाँव घुसेड़ देता है; एँड़ी पञ्जा बराबर हुआ कि पैसे देकर जूता घर लाता है। विलायत की कम्पनी को क्या मालूम कि काशी में एक अमुक बाबू को जूते की ज़रूरत है; ऐसा ध्यान होना भी कारखानों के स्वभाव-विरुद्ध है। लाखों-करोड़ों की लागत वाला कारखाना जितना ही जल्द, जितनी ही अधिक उपज कर सके उतना ही लाभदायक है। बाजार और ख़रीदार को न उसे चिन्ता करने का समय है, न बाज़ार और ख़रीदारों से उसका संबंध रह जाता है। उपज हो जाने पर उसकी खपत करनी पड़ती है, फिर प्रचार, चालबाज़ी, संघर्ष, युद्ध और फिर महायुद्ध प्रारम्भ होता है।

चूँकि यह जड़वादी सभ्यता है इसलिए यहाँ चेतन दृष्टि का सर्वथा अभाव ही रहता है। गाय को हिंदुस्तान का एक पवित्र और परम उपयोगी जीव माना गया है; परंतु फौजों

की माँग और चमड़े का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार चलाने के लिए गाय का सारा सामाजिक महत्व खत्म कर दिया जाता है और जीती जागती गो-माता की हाड़, मांस और चमड़ों के वजन में उसी प्रकार नाप-तौल की जाती है जैसे पहाड़ों से इकट्ठा हुए कंकड़ पत्थर। गाय ही नहीं, आदमी का भी यही हाल है। यहाँ लोगों को वैवाहिक भत्ता दिया जाता है ताकि फौजों में कटने के लिए आदमियों की पैदावार में कमी न हो।

परन्तु जब यह पैदावार बढ़ जाती है तो वह "गर्भपातालयों" यानी 'बर्थ-क्लिनिक' द्वारा उसे घटाने की भी तरकीब कर लेता है। इस तरह आज का इन्सान जूट और गन्ने से अधिक महत्त्व नहीं रखता जिसे जब चाहा बढ़ा दिया, जब चाहा घटा दिया। अमेरिका में ४० लाख मोटरें हैं, उनके लिए सड़कों की कमी पड़ गयी है। इसलिए खास तरह से सड़कें फैलायी जा रही हैं। अमेरिका में ही नहीं, हिंदुस्तान और दूसरे देशों में भी यही हो रहा है। इसका मतलब यह है कि सड़कों के फैलाव के लिए आदमियों के फैलाव को तंग करना पड़ेगा। यह है जड़वाद—यहाँ मोटर को आदमी पर तरजीह दी जाती है।

सृष्टि और जीवन के सम्बन्ध में जड़वादी दृष्टि रखने के कारण ही ऐसा होता है। जड़वादी या केन्द्रित सभ्यता, दोनों एक ही बात है। परंतु इसके विपरीत एक दूसरी दृष्टि भी है। इसे हम केन्द्रित के विरुद्ध विकेन्द्रित कह सकते हैं। यहाँ किसान खेती करता करता है। उसके पास भी हल-बैल, चरखा-करघा और कोल्हू-सी मशीनें हैं, पर यह इनका स्वामी है, कारखानों के ब्वायलर का खलासी नहीं। उसकी मशीनें उसकी इच्छा पर निर्भर हैं न कि वह स्वयं मशीनों का गुलाम है। उसकी इच्छा और सुविधा होती है, तो वह चलाता है; वरना बन्द रखता है।

जितनी उसे आवश्यकता है वह उतनी उपज कर लेता है। एक मनुष्य को जूते की आवश्यकता है वह सीधे चमार के पास जाता है। चमार उसके नाप और मर्जी के अनुसार जूता बना कर दे देता है। ठाकुर साहेब की लड़की का विवाह है—चार मन तेल चाहिये। तेली चार मन तेल पेर देता है। हमें कपड़ा मसाला, हींग, मूँगा, मोती या बर्तन की आवश्यकता है। सप्ताह में एक-दो बार आस पास वाले अपनी-अपनी चीज़ लेकर आ जाते हैं और लोग लेन-देन कर लेते हैं। यह है हमारा बाज़ार-हाट। यहाँ २४ घण्टे खुली रहने वाली शीशों और बिजली में सजी हुई चमाचम दूकानों के नुमाइश की ज़रूरत ही नहीं। यहाँ तो जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के तरीक़े हैं, न कि अनावश्यक नुमाइश में धन और शक्ति फूँकने का बन्दोबस्त। यहाँ यही नहीं कि कपड़ा देकर अनाज और अनाज देकर गहने मिल जायँगे बल्कि सैकड़ों बात बिना पैसे के ही होते हैं—धोबी, चमार, नाई, मेहतर सभी अपना-अपना कार्य करते रहते हैं और बदले में उनको "साली" दी जाती है, अर्थात् साल भर के हिसाब से उनको अनाज या खेत दे दिया जाता है। यहाँ उत्पादन का उद्देश्य जीवन सुविधा है, न कि पैसा और प्रभुत्व। जीवनावश्यकताओं के पूर्ति के बाद जो बच रहता है वही तिजारत में लगाया जाता है। इधर रोग और भूख से तड़पते हुए बच्चों का दूध बाज़ार में नहीं बेंचा जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में इस समय जड़वाद का ही प्राबल्य है, केन्द्रीयकरण इसका प्रमुख लक्षण है। यहाँ नीति, धर्म, मानवता—किसी का कोई मूल्य नहीं। पूँजीवाद, समूहवाद, नाजीवाद—सब में इसी की प्राणप्रतिष्ठा है। रोग,

भूख, दुख, दरिद्रता, हिंसा, बर्बरता, अनाचार, अत्याचार— ये ही उसके उपकरण हैं।

अतः संसार को स्वस्थ और सुखी बनाने के लिए भिन्न भिन्न वाद-विवादों की नहीं, एक चेतन दृष्टि की आवश्यकता है। गांधी जी ने हमें जीवन की यही दृष्टि दी है और उसे साकार बनाने के लिए तदनुकूल योजनाएँ दी हैं। हम इन्हें एक एक करके समझने की कोशिश करेंगे।

चेतनवाद

(१)

आजकल के वैज्ञानिकों का कहना है कि सूरज के जलते हुए गोल से एक टुकड़ा टूट कर अलग जा पड़ा; वह धीरे धीरे ठण्ढा होकर पृथ्वी बन गया—यही हमारी दुनिया है। पहले सब निष्प्राण, ठोस पदार्थ था, जीवन इसमें बाद में पैदा हुआ। इस सम्बन्ध में उसका यह भी तर्क है कि जब कहीं, पृथ्वी के किसी भाग में, जीवन नष्ट हो जाता है तब भी निष्प्राण पृथ्वी मौजूद रहती है। इस प्रकार आदि और अंत, दोनों स्थिति में जड़ प्रकृति की सत्ता को स्वीकार करके इन लोगों ने जड़ प्रकृति को ही समस्त सृष्टि को मूल और प्रधान माना और इसीलिए इन्होंने जीवन को भी जड़ का ही उपकरण समझा है।

सूरज का एक टुकड़ा ठण्ढा होकर पृथ्वी बन गया यह भी एक वैज्ञानिक कल्पना है। इस बात को प्रत्यक्ष सत्य मानने में विरोध हो सकते हैं, और हैं भी। यह बात ग़लत भी हो सकती है। न्यूटन के "आकर्षण सिद्धांत (लॉ आफ् ग्रेविटी) को लेकर दुनिया बहुत दिन तक चलती रही। वैज्ञानिकों के नये आविष्कारों ने उसमें कुछ हेरफेर किया है, और परिणामतः हमारी बहुत-सी बातों में, बहुत-सी कल्पनाओं और सिद्धांतों में हेर-फेर हो गया है। इसी प्रकार वैज्ञानिकों के बहुत से सिद्धांतों में नित्य नये नये आविष्कार होते रहते हैं और हमारी कल्पनाओं में, सिद्धांतों में, हमारे ज्ञान के उस आधार में ही उलट-फेर होता

रहता है। इन वैज्ञानिकों ने सृष्टि के भौतिक तत्त्व के रूप में कुछ चीज़ों का नाम दिया था। इसे वढ़ाते वढ़ाते इन्हों ने कई दहाई पर पहुँचा दिया है। सच पूछा जाये तो लोग अभी तक संसार के स्थायित्व का कोई निश्चित पता नहीं दे सके हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कल हमें यह मान लेने पर मजबूर किया जाये कि पृथ्वी सूरज के गोले से नहीं, कहीं और से, किसी और तरीक़े से पैदा हुई थी।

प्राणी शास्त्र के वारे में डार्विन को गुरु माना जाता है। परंतु डार्विन के प्रकृति के टुकड़ों को लेकर जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें दूसरे विद्वानों ने ग़लत सावित किया है। इन वातों को हम आगे चलकर समझने की कोशिश करेंगे। फ़िलहाल हमें ध्यान में केवल यही रखना है कि सृष्टि दो स्पष्ट तत्त्वों से मिल कर ही खड़ी होती है—जड़ और चेतन। चेतन के विना सारी सृष्टि ही निरुद्देश्य और विशृंखल वन जायेगी। 'जड़वाद' का रूप निरूपण करते समय हमने चेतन सत्ता को समझने की कोशिश की है। वहाँ हमने यह देखा है कि चेतन-सत्ता का स्पष्ट अस्तित्व स्वीकार किये विना सृष्टि के विकास-क्रम की कोई वुद्धिगम धारा स्थिर होती ही नहीं। जड़वादियों का कहना है कि दो शक्तियों के संघर्ष से जो तीसरी चीज़ वनती है वही विकास की अगली कड़ी होती है। विकास के लिए किसी तीसरी नियामक या समन्वयात्मक शक्ति की आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा ही है तो फिर आयोजन और नियोजन की ज़रूरत ही क्या? गांधी की न सही मार्क्स की भी क्या ज़रूरत रह जाती है। दुनिया को एक निश्चित विन्दु पर पहुँचाना है, "हमें" उसके लिए कोशिश करना चाहिये—परंतु यह "हम" कौन है?

सत्य यह है कि "हम" हैं, और एक खास चीज़ हैं। उस "हम" का, उस हम के लिए ही, यह सारा खेल है। इस हम को "अहम्" न समझ लेना चाहिये। अहम् के मानी यह हो जाते हैं कि जो कुछ हैं हम ही हम हैं। परंतु बात कुछ और है। अगर यह सच है कि सृष्टि में, समाज में, प्रत्येक प्राणी अपनी एक चेतन-सत्ता रखता है, तो यह भी सच है कि प्रत्येक प्राणी के साथ दूसरे प्राणी भी रहते हैं। इसलिए बात यह बनती है कि प्रत्येक प्राणी का स्वार्थ दूसरों के साथ जुड़ा हुआ होता है। इसके सामञ्जस्य, इसके निर्वाह में ही सृष्टि का समन्वय सम्भव होता है अन्यथा सृष्टि का सारा गति-क्रम ही भंग हो जाये। मतलब यह कि प्राणी समाज न तो जड़ प्रकृति का रासायनिक प्रतिफल है और न वह पूँजीवादियों का स्वच्छन्द उच्छृंखल जीव ही है। चेतनावाद का यह एक महत्त्वपूर्ण क्रियात्मक सिद्धांत है। इस क्रियात्मक सिद्धांत को लेकर हम मानव समाज को समझने की कोशिश करें तो बात अधिक सरल और अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

जड़वादियों ने सारी सृष्टि को ही संघर्ष-विघर्ष का प्रतिफल बताया है। इसके समर्थन में उन्होंने मनुष्य के सम्पूर्ण इतिहास को ही पेश कर दिया है। मनुष्य का इतिहास नाना प्रकार के लड़ाई झगड़ों का इतिहास है। इसे लेकर उन्होंने यह साबित करने की कोशिश है कि संघर्ष प्राणी समाज का जीवन-क्रम है। सैकड़ों हजारों वर्ष के निरंतर इतिहास के आधार पर जब कोई बात कही जाती है तो लोग उसे झटपट मान लेते हैं। परंतु इस इतिहास के पीछे जो रहस्य छिपा है, शायद, इन जड़वादियों ने भी नहीं समझा या हमें समझाया ही नहीं। वह

रहस्य क्या है? इस प्रश्न के उत्तर से मार्क्स का सारा ऐतिहासिक निष्कर्ष ही गलत हो जाता है।

संघर्षवाद या द्वन्द्वात्मक सिद्धांतों की दृष्टि से देखा जाये तो प्रश्न होगा कि आखिर इतिहास है क्या? यही न कि असाधारण बातों का सङ्कलन मात्र ही इतिहास है। नित्य-नैमित्तिक कार्य-क्रम के विपरीत जो बात होती है उसी का उल्लेख किया जाता है। लाखों, करोड़ों, असंख्य लोग जीवन-व्यापार में लगे रहते हैं। ये बातें इतिहासमें नहीं आतीं। लोगों के व्यक्तिगत और सम्मिलित कार्यों से ही सृष्टि का जीवन-क्रम स्थिर होता है, परंतु यह सब इतिहास के बाहर की बात है। जब कोई साधारण के विरुद्ध किसी से लड़ता है, किसीपर आक्रमण करता है, किसी को सताता है तो वह इतिहास बन जाता है। इसी प्रकार दुनिया में जो सहयोग की व्यापकता विद्यमान है, उस पर हमारी नजर नहीं जाती क्योंकि वह तो प्राकृतिक बात है; परंतु जब इसके विरुद्ध अपार सृष्टि के किसी हिस्से में संघर्ष होता है, शोषण होता है, तो वही इतिहास बनता है। और मार्क्स ने इसी अपवाद को सृष्टि का नियम मान लिया है। अब हम संघर्ष और सहयोग के इस महत्वपूर्ण प्रश्न को ज़रा और गहराई से देखेंगे।

(२)

यह एक अति सुबोध बात है कि जगत् परिवर्तनशील है, परन्तु प्रश्न यह होता है कि यह परिवर्तन तात्त्विक है या उपकरणगत? और है भी यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न। मार्क्सवाद की प्रत्येक शाखा इसी द्वन्द्वमान तर्क-वितर्क को लेकर खड़ी होती है। वास्तव में संसार के सम्मुख यही दो मुख्य प्रश्न हैं—अन्त-

द्वन्द्व अथवा सहयोग। "अवश्य ही वस्तुओं (भारतीय दर्शन की भाषा में वस्तुओं के रूप तथा प्रकृति) में नित्य जो परिवर्तन अथवा विकास हो रहा है, उसके भीतर अन्तर्द्वन्द्व कार्य कर रहा है; पर यह अन्तर्द्वन्द्व तात्त्विक नहीं है, मौलिक नहीं है; उपकरण-गत है। यह वस्तुओं की प्रकृति में है। यह पदार्थों में है। सब पदार्थों के मूल में जो तत्त्व है वह एक है, वह अव्यक्त और अरूप है। यदि मार्क्स-दर्शन के तात्त्विक विरोध को हम मान लें तो पूर्ण सामञ्जस्य की किसी भी अवस्था की कल्पना असम्भव हो जायगी। तात्त्विक विरोध को कम भले ही किया जा सके, निर्मूल नहीं किया जा सकता। आश्चर्य यह है कि इस तात्त्विक अन्तर्द्वन्द्व को मानकर भी मार्क्सवादी श्रेणी-विहीन समाज का स्वप्न देखते हैं। जब मार्क्स के 'डायलेक्टिक्स' (अन्तर्द्वन्द्व) की धारणा को हम मान लेते हैं तो यह भी मानना पड़ेगा कि समाज के मौलिक अन्तर्द्वंद्व का कभी अन्त न होगा। फिर यह कहना बिल्कुल गलत है कि एक समय श्रेणी-हीन समाज की स्थापना होगी।"

"प्रत्येक प्रकार के प्राणियों के जीवन में भीतरी (आन्तर) संघर्ष चलता है और उसी में उन्नति का मूल निहित है—ऐसा मान लेना किसी ऐसी बात को मान लेना है जो न तो अब तक सिद्ध हुई है और न तो प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा उसकी पुष्टि ही हुई है।" और यदि यह बात नहीं सिद्ध हुई है या प्रत्यक्ष अवलोकन द्वारा उसकी पुष्टि नहीं हुई है तो हम यही कहेंगे कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धांत का एक अङ्ग खण्डित है। खंडित सिद्धांत कभी पूर्ण अर्थात् मान्य सिद्धांत नहीं हो सकता। यदि विकास के लिए अन्तर्द्वन्द्व कोई प्रमुख महत्त्व

नहीं रखता तो सारे द्वन्द्वात्मक सिद्धान्त का ही महत्व क्षीण हो जाता है। इस बात पर तनिक सूक्ष्म दृष्टि डालिए,—"एक पड़ोसी के घर में आग लगी; लोग विना बुलाए बुझाने दौड़े। यह स्वयंभू प्रेरणा प्रकृति की स्वाभाविक सहयोग भावना है।" जुगाली करनेवाले पशुओं या घोड़ों का भेड़ियों से मुकाबिला करने के लिए गोलाकार बनाना, भेड़ियों का झुण्ड बनाकर शिकार में एक साथ निकलना, बकरी के बच्चों और मेमनों का एक साथ खेलना, अनेक पक्षियों का साथ-साथ दिन बिताना, एक विस्तृत भू-भाग में फैले हुए हजारों लाखों हिरनों का प्रवास के समय एक स्थान पर एकत्र होना - इत्यादि बातें सिद्ध करती हैं कि मनुष्य और पशु—दोनों ने सहयोग और सहायता से उत्पन्न होनेवाली शक्ति का परिचय पा लिया है जिससे ये सामाजिक जीवन में आनन्द का अनुभव करते हैं। इस प्रकार सहयोग की भावना एक अनुभूत सत्य का आधार लेकर प्राणी-मात्र का स्वभाव सिद्ध गुण बन जाती है। पारस्परिक सहयोग का यही स्वभावसिद्ध क़ानून, न कि 'मार्क्स' के अन्तर्द्वन्द्व की उत्पीड़ाएँ, सृष्टि के विकास का एक क्रियात्मक कारण बनता है। पारस्परिक सहयोग की यह शाश्वत भावना प्राणियों में सदा सर्वदा से चली आयी है। डार्विन ने भी स्वीकार किया है कि "एक प्राणी का जीवन दूसरे प्राणी पर निर्भर है; सन्तति की उत्पत्ति और सुरक्षा एक दूसरे के सहारे ही वृद्धिमान स्थिति को प्राप्त होती है। जीवन संघर्ष के क्रांतिकारी सिद्धांतों के इसी विश्वविख्यात प्रणेता ने आगे चलकर अपने "दि डिसेन्ट आव् मैन" नामक पुस्तक में सिद्ध किया है कि असंख्य प्राणी समूहों में पृथक्-पृथक् प्राणियों का परस्पर द्वन्द्व मिट जाता है, संघर्ष के स्थान में सहयोग का

अस्तित्व स्थापित होता है और परिणामतः उसका बौद्धिक और नैतिक विकास प्रारम्भ होता है। प्राणियों के अस्तित्वमान होने में यही विकास-क्रम सहायक होता है। डार्विन ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि ऐसे समुदायों में अधिक बलवान् या चतुर की नहीं, समाज हित के लिए पोषक शक्तियों के संगठन कर्ता को ही योग्यतम (Fittest) गिना जाता है। जिस समुदाय में ऐसे प्राणियों की बहुतायत होगी वही उन्नतिशील और फलीभूत होगा।

हम जब ध्यानपूर्वक देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि सब से योग्य वही होते हैं पारस्परिक सहयोग जिनका जीवन-क्रम बन जाता है। इन्हीं के लिए जीवन संघर्ष में विजय की अधिकतम सम्भावनाएँ होती हैं। अपनी-अपनी जाति में वे शारीरिक अथवा बौद्धिक उन्नति की सबसे ऊँची सीढ़ी पर पहुँच जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि विकास के लिए पारस्परिक सहयोग, न कि अन्तर्द्वन्द्व, सर्वोपरि प्रश्न है। सन् १८८० ई० में प्रिन्स क्रोपाट्किन ने अपने एक भाषण में कहा था- "मैं जीवन-संघर्ष के अस्तित्व से इन्कार नहीं करता परन्तु मेरा कहना है कि पारस्परिक सहयोग द्वारा प्राणी संसार तथा मानव-समाज का कहीं अधिक विकास होता है।......सब सेन्द्रिय प्राणियों की दो मुख्य आवश्यकतायें होती हैं। एक तो यह कि उनको खाने को मिले, दूसरी यह कि वे अपने जातियों की वृद्धि करें। पहिली बात उनको पारस्परिक संघर्ष की ओर ले जाती है, दूसरी बात उनको पारस्परिक संयोग पर बाध्य करती है। परन्तु सेन्द्रिय प्राणियों के विकास के लिए अर्थात् उनकी शारीरिक घटा-बढ़ी के लिए पारस्परिक संघर्ष की अपेक्षा पारस्परिक सहयोग अधिक महत्त्व रखता है। भोजन

के लिए भी पारस्परिक संघर्ष को एक निश्चित नियम मान लेना गलती होगी। यथार्थतः यहाँ भी समस्या का हल पारस्परिक सहयोग द्वारा ही सम्भव होता है। जब हम जीवन-संघर्ष के प्रत्यक्ष और व्यापक दोनों पहलू का अध्ययन करते हैं तो सर्वप्रथम पारस्परिक सहयोग के ही उदाहरण बहुतायत से मिलते हैं जो नस्ल के पालन-पोषण में ही नहीं, व्यक्ति के रक्षण और उसके लिए आवश्यक खाद्यसामग्री जुटाने के लिए होते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि सहयोग तथा सामाजिकता न, कि अन्तर्द्वन्द्व, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, किसी रूप से, सृष्टि के विकास का मुख्य कारण है।

परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति के स्वार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। भिन्न ही नहीं, परस्पर विरोधी भी हैं। इसीलिए उनके आचरण में भी वैषम्य होता है। भले ही आज उपर्युक्त बात नजर आ रही हो परन्तु इसे किसी स्वाभाविक सिद्धान्त का महत्त्व नहीं दिया जा सकता। इसका खंडन स्वतः उन्हीं के अगले वाक्य से हो जाता है— "जो परिस्थिति को ज्यों की त्यों रखना चाहते हैं और जो परिस्थिति को बदलना चाहते हैं, दोनों के दृष्टि-कोण में अन्तर है। भले ही सम्प्रदाय, समुदाय, जाति या समूह के स्वार्थों में भेद नजर आ रहा है परन्तु व्यक्ति-व्यक्ति के स्वार्थ में भेद होने के कारण उन अनेकों का एक सम्मिलित उद्देश्य कैसे सम्भव हो सकता है? यदि व्यक्ति के स्वार्थ में भेद है तो वैषम्य व्यापक और अमिट होगा और अमिट मतभेदों में साम्य स्थापित ही नहीं हो सकता। या यों कि व्यक्ति-व्यक्ति लड़ने के सिवा मिलकर कभी समाज बना ही नहीं सकते। तनिक

ध्यान से विचारिये—एक गाँव या प्रान्त में गर्मी अधिक पड़ती है, वर्षा खूब होती है, चावल ही वहाँ की उपज है। वहाँ के प्रत्येक व्यक्ति की रहन-सहन गर्मी और वर्षा के अनुपात से लगभग एक सी और उसका खाद्य चावल होगा। इसके विपरीत स्वार्थ रखनेवाले को उस देश से कहीं अन्यत्र का होना होगा। और रहना भी अन्यत्र ही होगा। इसी बात को यों कहा जायगा कि उस प्रदेश के समस्त प्राणियों का भोजन और रहन-सहन एक सी होगी और इसी तद्रूपता में उनका स्वार्थ सिद्ध होगा अर्थात् किसी स्थान या प्रदेश के निवासियों का सामूहिक स्वार्थ और परिणामतः उनकी रहन-सहन, उनके आहार-व्यवहार, आचार-विचार तथा जीवन के मूल लक्ष्य एक समान होंगे। इस प्रकार सामूहिक, जातीय, प्रादेशिक भेद हो सकते हैं—व्यक्ति-व्यक्ति में नहीं। मतलब यह कि जीवन-संघर्ष हो सकता है—अन्तर्द्वन्द्व नहीं। यथार्थतः सामूहिक विकास के लिए अन्तर्द्वन्द्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जो कुछ प्राकृतिक वैषम्य होता है वह केवल उसी प्रकार जैसे किसी वृक्ष की विभिन्न आकार प्रकार वाली पत्तियाँ सामान्यतः एक-सी ही होती हैं और उनकी इस विषमता अथवा विभिन्नता से ही पत्तियों की स्थिति दृष्टिगोचर होती है अथवा जैसे स्त्री-पुरुष के आकार-प्रकार और भेद से ही दोनों का पृथक्-पृथक् बोध होता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे के पूरक न होकर एक दूसरे के विरोधी हैं।

आज समुदायों में आन्तरिक संघर्ष छिड़ा हुआ नजर आ रहा है। परन्तु इसका कारण ढूँढ़ने के लिए इसके रूप को ही समझना होगा। यह संघर्ष धनवान् और दरिद्रों का, समर्थ और

असमर्थों का है या यों कहिए कि एक कृत्रिम अवस्था जो उत्पन्न हो गयी है उसे मिटाकर लोग व्यक्ति-व्यक्ति की स्वाभाविक तद्रूपता को पुनः स्थापित कर देना चाहते हैं। कहने का अभिप्राय, आन्तरिक संघर्ष समुदाय को उत्पीड़ित कर देता है और उसे मिटाकर एक स्वाभाविक सामञ्जस्य के लिए लोग प्रकृततः वाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जगत का सञ्चालन अन्तर्द्वन्द्व से नहीं, सहयोगी और सामाजिक प्रेरणाओं से ही होता है। इस सम्वन्ध में दूसरी परन्तु पहली से अधिक महत्त्व की वात यह है कि मानव जगत् की वर्तमान दशा कृत्रिम है और परिणामतः एक कृत्रिम स्वार्थ की भावना ने लोगों के मन में घर कर लिया है। अतएव यदि व्यक्ति-व्यक्ति के आचार-विचार में भेद दिखलाई पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। यह कृत्रिम अवस्था क्यों और क्योंकर उत्पन्न हुई जहाँ पहुँच कर पारस्परिक सहयोग के स्वाभाविक प्रामुख्य के स्थान में एक कृत्रिम अन्तर्द्वन्द्व को अवसर प्राप्त हुआ? वह है कल-युग। इसके पहले यदि पारस्परिक संघर्ष था तो केवल उसी प्रकार जैसे एक पिता के संरक्षण में एक ही घर में एक ही उद्देश्य लेकर दो भाइयों की, अथवा पति-पत्नी की, या एक ही मुंह में अनेक दाँतों की टक्कर। परन्तु इन टक्करों को लेकर सारे मनुष्य स्वभाव को अन्तर्द्वन्द्व का रूप दे देना उचित नहीं दीखता। इतिहास के अगाध सागर से दारा, औरङ्गजेब, शाहजहाँ अथवा कौरव-पांडवों के कुछ इने-गिने दृष्टान्तों को लेकर मानव-समाज की प्रेरणा स्वरूप व्यापक सहयोग भावना पर अन्तर्द्वन्द्व की वैसे ही झूठी चादर चढ़ाना है जैसे हिन्दुस्तान के ही हवा, मिट्टी और खून से वने हुए लोगों को हिन्दुस्तान के वाहर का एक दूसरा पाकिस्तानी राष्ट्र वताना।

स्थिति का निर्माण करते हुए एक सबल समाज और राष्ट्र के सामूहिक अस्तित्व को सुखद रूप से सम्भव बनाता है। समाज शास्त्र के व्यावहारिक स्वरूप पर दृष्टि डालने से भी यही बात सिद्ध होती है कि समाज उस समय बनता है, जब झुण्डवालों का आपस में सहयोग होता है। बहुत से लोगों का आपस में मिलकर एक दल हो जाने पर वैयक्तिक-स्वतंत्रता और स्वच्छन्दता का नाश हो जाता है और एक साथ रहनेवालों को पास-पड़ोसियों की सुविधा का ध्यान रखकर, अपनी जाति को सीमाबद्ध करके, चलना पड़ता है—यहाँ घातक स्वच्छन्दता के स्थान में एक परिणाम जनक सहयोग का उद्भव होता है। सहयोग होते ही निर्भरता का प्रादुर्भाव होता है। जुलाहे का बढ़ई के बिना, शिकारी का लुहार के बिना, ब्राह्मण का क्षत्रिय और वैश्य बिना, काम अटकने लगता है और जब यह ऐक्य सम्पूर्ण हो जाता है, तब हमारा समाज भी पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु केवल सहयोग कह देने से ही बात पूरी नहीं होती। सहयोग का नियमित और निश्चित रूप से उपयोग करने के लिए, ताकि कोई स्वच्छन्द प्राणी समाज-चक्र में बाधा न डाल दे, संघटन की आवश्यकता होती है।

सहयोग तीन प्रकार का होता है: प्रथम वह जो प्रारम्भिक दशा में वैयक्तिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, एक दूसरे की सहायता के विचार से स्वतः हो जाता है। दूसरा जब संगठित हो जाने के उपरान्त, समाज-दण्ड के भय से हम लोग सहयोग करने के लिए बाध्य होते हैं। तीसरा वह जो उन्नत दशा में जीवन की सुविधाओं के सुवितरण के लिए होता है। परन्तु जब तक हमारे पूर्वज आर्यों के समान लोगों का दल झुण्ड-बद्ध स्थिति में 'आज यहाँ मारा, कल वहाँ खाया' की तरह भटकता रहेगा

तब तक कोई संगठन नहीं हो सकता ; यदि हुआ भी तो स्थायी नहीं रह सकता। एक दल का दूसरे दल से संघर्ष होते रहने के कारण, युद्ध कालीन व्यवस्था को सफलता पूर्वक चलाने के लिए, एक सरदार नियत करके ज्यों-ज्यों लोग अधिक संगठित होते जाते हैं सामाजिक संस्थाओं में भी वृद्धि होती जाती है। पहिले बहुत से लोगों के संगठन से एक दल और एक जाति बनती है, फिर उस दल और राष्ट्र के सामाजिक जीवन को स्थिर रखने के लिए विभिन्न संस्थाओं की आवश्यकता पड़ती है—क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्राह्मण, पुजारी, व्यापारी, कारोबारी, अध्यापक, वैद्य, सैनिक, सेवक तथा नाना प्रकार के लोग उसी एक समाज-संस्था के विभिन्न अङ्ग हैं। संघटन का प्रमुख नियम है कि कार्य और कर्तव्य स्पष्ट हो जाने से संस्थाओं का क्रियात्मक निर्माण होता है। नृत्य, संगीत, युद्ध, वाणिज्य, सेवा, शिक्षा आदि की निरन्तर आवश्यकता पड़ते रहने के कारण नर्तकाएँ, गायिकाएँ, शूद्र और फिर उनका अपना-अपना कर्तव्य विधान बन जाता है। इस प्रकार जब लोगों के सहयोगी कार्यों द्वारा जीवन-सुविधाएँ और साधन, अधिक सरलता से प्राप्त हो जाने के कारण संघर्ष की माया क्षीण होने लगती है तो समाज में वास्तविक उन्नति का उदय होता है। संघर्ष-कालीन शासन और दण्ड की कठोरता से निकल कर हम समाज सञ्चालन में स्वयं सहयोग देने लगते हैं—प्रतिनिधित्व और जनसत्ता की वहाँ सुनिश्चित स्थापना होती है। यह है चेतन सृष्टि का तरीक़ा। यहाँ प्राणी को ईंट-पत्थर नहीं, समाज की एक चेतन इकाई माना जाता है और सब एक दूसरे के लिए, एक दूसरे को लेकर जीते और बढ़ते हैं। यहाँ एक के सुख-समृद्धि में दूसरे का चेतन योग-बल होता है। यहाँ लोकसंग्रह की भावना ही प्रधान होती है, अन्तर्द्वन्द्व नहीं।

इसीलिए गांधी ने कहा है कि सृष्टि का इतिहास संघर्ष का नहीं, अहिंसा के विकास का इतिहास है। अहिंसा के मानी ही हैं प्रेम और सहयोग। अहिंसा सृष्टि का मूल नियम है, बाक़ी सब उपनियम हैं।

———

सत्य और अहिंसा

(१)

आज हिन्दुस्तान आज़ाद होकर भी मौत के मुँह में फँसा हुआ है। असंतोष, अशान्ति, दुख और क्षोभ ने सबके मन में घर कर लिया है। हज़ारों प्रकार की असुविधाओं और अभाव से ऊब कर लोग समाज और सरकार दोनों को दोषी ठहराने लगे हैं। और इसी लिए यह भी कहा जाता है कि इन दोनों को तोड़ फोड़ कर नये समाज और नयी सरकार की स्थापना करनी चाहिये। इस तरह ये लोग दुख के स्थान में सुख की सृष्टि करना चाहते हैं। जो व्यवस्था हमें पसंद नहीं है, जिस व्यवस्था के कारण रोग, दुख, कष्ट और उत्पीड़न को जन्म मिलता है उसे जैसे भी संभव हो तोड़ फोड़ कर नष्ट-भ्रष्ट कर देना चाहिये, मिटा देना चाहिये, चाहे इस कार्य में कितनी भी हिंसा और जबरदस्ती क्यों न करनी पड़े ! हम सुख की स्थापना करना चाहते हैं, इस लिए स्त्री और मासूम बच्चों का निर्ममता-पूर्वक वध कर देने में कोई दोष नहीं। हम एक नये समाज की स्थापना करना चाहते हैं इसलिए मौजूदा समाज को, समाज की सभी या किसी भी चीज़ को बेमुरव्वती के साथ बर्बाद कर देना जायज़ हो सकता है हमें मौजूदा समाज के तौर तरीक़े पसंद नहीं हैं, इसलिए उन्हें पैरों से बिना किसी सोच विचार के रौंद डालने में दोष नहीं दीखता ; हमें चालू ढंग पसंद नहीं,

इसलिए कहा जाता है कि हम स्वयं बेढंग हो जायें। यह सब जड़वादियों का रास्ता है।

दूसरा रास्ता चेतनवादियों का है। इनका कहना है कि इस जड़ सृष्टि के व्यापक जीवन व्यापार को शृंखलाबद्ध करने के लिए, उसे दिशा और व्यवस्था देने के लिए एक चेतन पुरुष का क्रियात्मक एवं प्रेरणात्मक अस्तित्व अनिवार्यतः आवश्यक है। असंख्य जीवधारियों के विभिन्न गुण कर्म, स्वभाव, आशाओं, अभिलाषाओं, ऐषणा तथा कर्तृत्व आदि का सामञ्जस्य और समन्वय करके उन्हें सामूहिक एवं सुव्यवस्थित रूप देने के लिए एक समीकारक शक्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है—सृष्टि का यही मूल कर्ता एवं परम तत्व है। बिना इसके विविधता में एकरूपता आ ही नहीं सकती, बहुरूपता में तादात्म्य स्थापित करना असंभव हो जायेगा। आगे पीछे, नीचे ऊपर होकर भी संसार एक निश्चित उद्देश्य और एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ता है—ऐसी किसी कल्पना के लिए कोई आधार नहीं रह जाता, यदि सबके पीछे वही एक परम तत्व क्रियाशील न हो। प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनों का अनुभव स्थल किसी एक चेतन सूत्र में ही हो सकता है। स्वभावतः इस चेतन की धारणा प्रत्यक्ष दर्शन से नहीं, भावानुभूति और अनुमान द्वारा ही की जा सकती है। जो लोग इस प्रकार चेतन सत्ता को स्वीकार नहीं करते वे "नीति शास्त्र" जैसी किसी चीज की बात भी क्यों करते हैं? जरूरत से मजबूर होकर अपनी कमजोरी से बाहर आने के लिए समझौते के तौर पर यदि बात करते ही हैं तो उनकी बात में कोई 'तात्विक' आधार नहीं हो सकता। कोई किसी को मारे, कोई किसी को खाये, जिसके मन जो भाये करे, व्यवस्था हो या अराजकता—इन सबका कोई

मौलिक एवं स्थायी समाधान प्रस्तुत करना अनात्मवादियों के लिए संभव हो ही नहीं सकता।

इस दृष्टिकोण से जब हम समस्याओं का समाधान ढूँढ़ते हैं तो, स्वभावतः, सबसे पहले हमारे सामने सत् और असत्, साध्य और साधन का प्रश्न उठता है। स्पष्टतः, जैसा कि बताया जा चुका है, इस स्थान पर जड़वादियों का एक और चेतनवादियों का दूसरा रास्ता हो जाता है। इन दो रास्तों से ही दो विचार-धाराएँ, दो व्यवस्थाएँ क़ायम होती हैं। इसलिए आवश्यक है, परमावश्यक है, कि हम साध्य और साधन के इस गहन पहलू पर भी गम्भीरता पूर्वक विचार कर लें।

जड़वादी हों या चेतन वादी, सभी यह चाहते हैं कि दुनिया में सुख-शान्ति क़ायम हो, श्री और समृद्धि का साम्राज्य हो, रोग दुख का नाम न हो, किसी पर किसी का दबाव न हो, कोई किसी को सताये नहीं, सब स्वतंत्र और समान हों, जीवन के उत्थान में किसी के आगे कोई बाधा न हो, हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या और संघर्ष का नाम भी न रहे, लोग झूठ और फ़रेब से मुक्त हों। निश्चय ही यह एक परम कल्याणकारी साध्य की कल्पना है, जो निर्मल है, उज्ज्वल है, गति और जीवनदायी है।

प्रश्न स्वभावतः उठता है कि क्या आप अशुभ से शुभ की स्थापना कर सकते हैं? क्या आप सोचते हैं कि बेगुनाह बच्चों का वध करने पर भी लोग आपके बच्चों को प्यार करेंगे? क्या आप सोचते हैं कि ख़ून की नदी से दूध की धाराएँ बहेंगी? क्या आप सोचते हैं कि सोते हुए निरपराध मुसाफिरों की गाड़ियों को पटरी से उलट कर समाज में निष्कंटक व्यवस्था का विधान किया जा सकेगा? क्या आप स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करके अपनी माँ बहनों की मर्यादा को शुभ्र और अक्षुण्ण

बनाने की कल्पना करते हैं ? जालिम ही क्यों न हो, जिसे आप बर्बाद करेंगे तो क्या वह आपका विरोध न करेगा ? हिंसा से हिंसा, क्रोध से क्रोध का क्योंकर अंत हो सकता है ? यह केवल बौद्धिक तर्क नहीं, एक तात्विक प्रश्न है, जरा ग़ौर से समझें।

ऊपर कहा गया है कि चेतन की, परमात्मा की, धारणा प्रत्यक्ष दर्शन से नहीं, भावानुभूति और 'अनुमान' के द्वारा ही की जा सकती है। अत: स्पष्ट है कि मनुष्य के लिए 'साध्य' एक अप्राप्य वस्तु है। उसके पास जो है वह साधन ही है। इस साधन से ही वह साधना द्वारा साध्य को प्रति पग पर स्पष्टता करता जाता है।···साधन वह सड़क है जिसका अन्त ही साध्य है। अतएव हमारे लिए यद्यपि प्राप्य या साध्य अत्यन्त महत्व की वस्तु हैं पर व्यावहारिक दृष्टि से हमारा अधिकार, साधन तक ही है और उसकी उपेक्षा करके हम साध्य को प्राप्त करने की कल्पना भी नहीं कर सकते। अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। सर्वथा नवीन सृष्टि भी इसी लिए सम्भव नहीं है। इस प्रकार जहाँ जो चीज़ सम्भव है वहीं से उसका विकास सम्भव है। अतः साधन या महत्व साधक के लिए साध्य से अधिक होता है। साध्य तो साधन की परिणति मात्र है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जिस साध्य को हम प्राप्त करना चाहते हैं हमारे साधन भी उसी के समानुकूल होने चाहिये। हम यह हर्गिज नहीं कह सकते कि जिस साधन से साध्य प्राप्त हो जाये वही ठीक है। फिर तो यही होगा जो पूर्वी बङ्गाल में पाकिस्तानी कर रहे हैं या हिन्दुस्तान में कम्युनिस्ट करना चाहते हैं। फिर परेशानी क्यों हो ? आज यदि किसी भी कारण से ग़ल्ले का अभाव है और आप उसके निराकरण के लिए ग़ल्ले की गोदामों को जला कर खाक कर दें तो क्या

आपके घर में अपने आप अनाज की वखारें खड़ी हो जायेंगी ? खाद्य-विभाग में भ्रष्टाचार है, इसलिए जवाहर और पटेल को गोली के घाट उतार देने से क्या सप्लाई विभाग वाले देवता वन जायेंगे ? पाकिस्तान में औरतों को वर्बाद किया गया है इसलिए हिन्दुस्तान में औरतों को वर्बाद कर देने से क्या सारा कलंक मिट जायेगा, सारा घाव भर जायेगा ? यदि यह सव, अक़लमंदी नहीं, पागलपन है तो समझना होगा कि सच्चा रास्ता क्या है ? सच्चाई की यह खोज ही गांधी की विशेषता थी। इसी लिए उन्होंने भगवान् का भी हमें 'सत्य' के नाम से ही वोध कराया है। अव हम उसी को समझने की कोशिश करेंगे।

(२)

भिन्न भिन्न वर्गों का भिन्न भिन्न स्वार्थ और फिर उनमें पारस्परिक संघर्ष का होना अस्वाभाविक नहीं हो सकता—इतिहास के इस पहलू पर मार्क्स और गांधी दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। परंतु यह वर्ग संघर्ष सृष्टि की व्यापक नहीं, गौण स्थिति है। व्यापक स्थिति है सव का सहयोग पूर्वक मिलकर सामूहिक अस्तित्व और सामूहिक विकास को संभव वनाना। इसी एक तथ्य के दो पहलुओं को लेकर मार्क्स और गांधी, दोनों ने इतिहास के दो निष्कर्ष निकाले हैं। मार्क्स ने सृष्टि को संघर्षमय वताकर वर्ग संघर्ष का सिद्धांत क़ायम किया, परंतु गांधी ने कहा सृष्टि का इतिहास अहिंसा के विकास का इतिहास है। पिछले अध्याय में हम काफ़ी विस्तार के साथ स्पष्ट कर चुके हैं कि सहयोग के विना, और तो क्या, संसार का अस्तित्व भी असंभव है। वहीं यह भी साफ़ कर दिया गया

है कि सहयोग का मतलब ही है अहिंसा। इसी लिए समाज की कल्पना करते हुए गांधी ने सत्य और अहिंसा को अपनी योजना के दो परम तत्व बताये हैं। पहले हम इन्हीं दोनों को समझने की कोशिश करेंगे।

गांधी के अनुसार सत्य और अहिंसा दोनों एक ही बात है। सत्य को गांधी ने साध्य और अहिंसा को साधन बताया है। ऊपर हमने सिद्ध किया है कि साधन की परिणति ही साध्य है, इसलिए एक को समझ लेने से दूसरा अपने आप साफ हो जायेगा। चूँकि गांधी दर्शन की व्याख्या इस लेख का उद्देश्य नहीं है, इसलिए हम यहाँ केवल उसी अंश को लेंगे जिसका हमारी वर्तमान समस्याओं से साक्षात् सम्बन्ध है।

विश्व की वर्तमान सभ्यता कल-कारखानों की, मशीनों की सभ्यता है। मशीनें मनुष्य के खून से, मनुष्य के हाड़ मांस से ही बढ़ती और फैलती हैं। पहले मनुष्य की मज़दूरी को मारकर उसे मुहताज बना देती हैं, फिर धीरे धीरे उस रोग, दुख और दरिद्रता में लपेटकर हड़प जाती हैं। आज यह मरती हुई मानवता जीवन के लिए आतुर हो उठी है; इसने महाकाली के समान विकराल रूप धारण कर लिया है—इसकी हिंसा और बर्बरता से पृथ्वी काँप रही है। परन्तु विडम्बना यह है कि मशीनों के हिमायती कहते हैं कि आज की कलमय उद्योग व्यवस्था के फलस्वरूप लोगों में "टीम-स्प्रिट" (संघ-वृत्ति) का उदय होता है। ठीक है कि भिन्न-भिन्न कार्यों के आधार पर उनमें लगे हुए लोगों का अपना दल संघठित होकर कार्य करने लगता है जिसे हम "टीम-स्प्रिट" कह सकते हैं। परन्तु इसका यह भी और बहुत भयंकर अभिप्राय है कि समाज सम्पूर्ण के लिए नहीं, भिन्न-भिन्न दलों में बँट कर वर्णात्मक

और वर्गात्मक स्वार्थों के लिए कार्य करने लग गया है। भिन्न-भिन्न दलों के भिन्न-भिन्न स्वार्थ हो सकते हैं और होते ही हैं और उन स्वार्थों में संघर्ष भी होता रहता है। यहाँ एक महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखने की यह है कि उपर्युक्त टीम-स्प्रिट सबके समन्वयात्मक विकास के लिए नहीं, बल्कि सत्ता और स्वत्वाधिकारियों से लड़कर कुछ पा लेने का एक ढंग, एक अभिलाषा मात्र है। साम्यवादी या समाजवादी व्यवस्था में मजदूरों का स्वत्वों पर अधिकार हो जाता है तो यह टीम-स्प्रिट पारस्परिक सद्भावना की हद तक जाकर खत्म हो जाती है। इससे आगे बढ़ने की इसे आवश्यकता ही नहीं रह जाती। यदि इस टीम-स्प्रिट को किसी प्रकार क़ायम भी रक्खा जा सके तो भी वह अधिक से अधिक एक कृत्रिम उपाय मात्र होगा; न कि समाज की स्वयंभू प्रेरणा शक्ति।

जरा ध्यान से देखिये। पहले तो लड़कर कुछ प्राप्त करना था इसलिए लोग मिलते रहते थे, अब उन्हें सब कुछ प्राप्त है। यहाँ संघर्ष का महत्व क्षीण हो जाता है, संघर्ष के साथ ही शक्ति का प्राधान्य भी क्षीण हो जाता है। अर्थात् "संघ शक्ति" वाला सिद्धांत भी गौण हो जाता है। या यों कि टीम-स्प्रिट अर्थात् "संघ वृत्ति" को केवल संघर्ष काल में ही प्राधान्य प्राप्त रहता है। समाज की शांतिमय स्थिति में जब लोग अन्तर्मुख होकर मानव विकास के कारण बनते हैं तो टीम-स्प्रिट अस्तित्व-हीन सी ही रहती है।

यह बात तो निश्चित सी है कि जब बड़ी-बड़ी मशीनों के सहारे सामूहिक उत्पादन होता है तो एक को दूसरे के कार्य में रस मिल ही नहीं सकता। राजनीतिक अथवा अन्य किसी कारण से लोग भले ही मिले रहें परन्तु यह उनका स्थायी एकीकरण

नहीं, अस्थायी सहयोग मात्र होता है। स्थायी एकीकरण होने के विरुद्ध मौलिक बाधा है। एक या अनेक उद्योग के लोग मिल कर कार्य करते हैं और मिलजुलकर रहते हैं। एक दूसरे का हितचिन्तन भी होता है। यह भी हो सकता है कि लोग ध्यान रखें कि उनके साथी भी सुखी हैं। परन्तु यथार्थ यह है कि एक के सुख-दुख के लिए दूसरा जिम्मेदार नहीं होता क्योंकि दोनों को अपने-अपने सुख के लिए भी किसी तीसरे ही स्थान या वर्ग पर निर्भर होना पड़ता है किसी तीसरे से ही प्रेरणा प्राप्त होती है। यह सुख-स्रोत बड़े-बड़े कारखाने, मशीनें, मजदूर-समिति या सरकार, कोई भी हो सकता है। यह नहीं कि किसान को बढ़ई और लोहार से हल और चर्खा लेना पड़ता है, लुहार और बढ़ई को अपनी वस्तु और अपने श्रम के बदले किसान से अन्न लेना पड़ता है, या नाई और धोबी को अपने अपने कार्यों के बदले लोगों से व्यक्तिगत सुख और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

अब यहाँ एक और महत्त्व की बात उत्पन्न होती है। दो को जब एक बिल्कुल ही अलग तीसरे स्थल से जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती है तो स्वभावतः इन दोनों के बीच का समन्वयात्मक सूत्र क्षीण हो जाता है, उनकी पारस्परिकता नष्ट हो जाती है। सामाजिक सामञ्जस्य (सोशल बैलेंस) की सारी प्रेरणाएँ शिथिल पड़ जाती हैं। लोगों को ऐसी किसी आवश्यकता का अनुभव ही नहीं होता। सारांश यह कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच किसी प्राकृतिक एवं पारस्परिक सामञ्जस्य सूत्र के स्थान में अधिकाधिक कृत्रिम-सी सहयोग-भावना मात्र शेष रह जाती है जो दुनिया के ज्वारभाटों में

गड़कर सहज ही हिलती-डोलती और टूटती-फूटती रहती है। आज हम इसी बात का साक्षात्कार कर रहे हैं। टाटा के कारखाने में हजारों मजदूर एक साथ काम करते हैं; मिल-जुलकर रहते भी देखे जाते हैं। मजदूरी के लिए सब मिलकर लड़ते और हड़ताल भी करते हैं परन्तु दूसरी ओर ये ही मजदूर 'हिन्दू' और 'मुसलमान' बनकर एक दूसरे को जबह भी करने लगते हैं। क्यों? क्योंकि दोनों एक दूसरे के सुख-दुःख के लिए एक दूसरे पर निर्भर नहीं रहते, दोनों के बीच कोई प्राकृतिक बंधन नहीं है और यही कारण है कि उन दोनों को एक दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र बनाकर प्रतिद्वन्द्वी सम्प्रदायों का रूप दे दिया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज की हिंसात्मक प्रवृत्तियों के मूल में कलमय व्यवस्था की ही विध्वंसक लीलाएँ कार्य कर रही हैं। इसका प्रमाण तो इसी बात से मिलेगा कि औरंगजेब जैसी कट्टर हिन्दू विरोधी मुसलमान हुकुमत में भी हिन्दू और मुसलमान प्रजा के पारस्परिक सद्व्यवहार खराब नहीं हुए; जो कुछ था वह शासक का शासित पर ही जोर-जुल्म कहा जायेगा। यह ठीक है कि हिंसा और शोषण ने शहर और उद्योगस्थलों से बढ़कर दूर-दूर के गाँवों में भी घर कर लिया है जहाँ कल-कारखाने नहीं हैं। परन्तु इससे क्या होता है? सारा देश ही एक ऐसी कलमय व्यवस्था में बँध गया है जो मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती है तो फिर गाँव और शहर का अलग क्या हिसाब? आज भारत के कितने गाँव चर्खे और कर्घे के सहारे एक दूसरे में मिले-जुले हुए हैं? आज कितने लोग जीवनोद्योगों के आधार पर एक दूसरे के सुख-दुख की जिम्मेदारी का अनुभव करते और एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं? हम बसते हैं गाँवों में और हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है अहमदाबाद और

मैनचेस्टर की मिलों से, हालैंड के दुग्धालयों से, जापान और अमेरिका के कारखानों से। फिर भला गाँव या शहर वाले क्यों एक दूसरे के सुख-दुख का अनुभव करें, उसमें क्यों सम्मिलित हों ?

परिणामत: मशीनाश्रित उद्योग व्यवस्था में स्वार्थपरता मनुष्य का निश्चित स्वभाव बन जाता है। भारत ही नहीं, सारा विश्व आज इसी स्वार्थपरता का शिकार हो रहा है। इङ्गलैण्ड और अमेरिका के भिन्न-भिन्न मजदूर वर्ग अपनी-अपनी मजदूरी के लिए हड़ताल कर देते हैं जब कि उनकी इस प्रकार की हड़तालों से सारे राष्ट्र का जीवन संकटमय हो जाता है। यह तो सामूहिक स्वार्थपरता है ; व्यक्तिगत रूप से भी उसी इंगलैंड और अमेरीका में एक ओर कुछ लोग सुखाधिक्य से बेहाल हैं, दूसरी ओर कुछ लोग अभावपूर्ण जीवन की यातनाओं में घुल-घुल कर समाप्त हो रहे हैं। कोई किसी के भले बुरे का देनदार नहीं है। कोई किसी की खोज खबर रखना अपना व्यक्तिगत कर्तव्य नहीं समझता। चोरी, राहजनी, बलात्कार, बदमाशी—पाश्चात्य कलमयी व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

इस भयावह स्वार्थपरता के बावजूद भी मनुष्य अपने सम्मिलित व्यवहार के लिए विधान करता है। उसका यह कृत्रिम विधान सरकार के रूप में प्रकट होता है। आज की सरकारें समाज से स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। समाज को सरकारी कानूनों पर ही जीना-मरना पड़ता है। समाज अपने भले बुरे की जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया जाता है। हम आये दिन देखते हैं कि लोग अन्याय और अत्याचार करते हैं, परन्तु समाजवाले उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते, जब तक कि सरकार

के न्यायालय में मामला उपस्थित होकर पेचीदा रास्तों से उसका निर्णय न हो जाये। उस निर्णय को कार्यान्वित करना भी सरकारी उत्तरदायित्व होता है। मतलब यह है कि सामाजिक दुराचारों के सम्मुख भी समाज लाचार और निरीह-सा खड़ा रहता है। परिणामतः सामाजिक नियंत्रण से दूर रहने के कारण, स्वार्थ और दुरचारों को स्वच्छन्दता पूर्वक बढ़ने का अवसर प्राप्त होता है जिससे हिंसा और प्रतिहिंसा का जन्म होता है। मनुष्य की यह हिंसात्मक प्रवृत्ति व्यक्ति से समाज, समाज से राष्ट्र और फिर समस्त विश्व में व्याप्त हो जाती है।

भारत भी आज इसी महामारी का शिकार हुआ है। ज्यों ज्यों कलमयी उद्योग व्यवस्था और उसके फलस्वरूप शहरी सभ्यता का विस्तार होता गया देश में हिंसात्मक संघर्षों का तारतम्य जघन्य होता गया। साथ ही साथ कलमयी व्यवस्था से प्रेरणा-प्राप्त भारत की ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश कानूनों द्वारा भारतीय समाज को स्वत्व-हीन बना दिया। सारी सामाजिकता ही छिन्न-भिन्न हो गयी। ब्रिटिश कानूनों तथा भारतीय समाज की लाचारी के बीच हिंसात्मक प्रवृत्तियों को प्रबल होने का पर्याप्त अवसर मिला।

'कलमयी कार्यक्रम की पारिणामिक पेचीदगियों' का विवेचन करते हुए प्रो॰ टासिग कहते हैं कि 'इसका पहला रूप यह है कि पूँजी की वृद्धि होती है, व्यवसाय वाणिज्य की वृद्धिमान सत्ता स्थापित होती है और व्यवसायी वर्ग पूँजीपर प्रभुता प्राप्त कर लेता है। उत्पादन वृहत् आधार पर फैलता है, और उद्योग-धन्धों पर एकाधिकार की परिपाटी को प्रोत्साहन मिलता है। श्रम समुदाय की एक नयी स्थिति का उदय होता है, मालिक और मजदूर की विभिन्नता के साथ ही उनकी विभाजक दूरी निर्बाध

गति से बढ़ती जाती है। सामाजिक समस्याएँ भयंकर होने लगती हैं।......सारा समाज श्रेणियों में बँट कर दूर-दूर होने लगता है।' अर्थ यह कि कलमय व्यवस्था से समाज में समन्वित सम्पूर्णता के स्थान में विभाजित श्रेणियों की स्थापना होती है। यह प्रश्नों का महा प्रश्न है जिसका उत्तर समाज-वादियों को देना होगा कि वे वर्गों को मिटाना चाहते हैं या वर्गभेद को बढ़ाना चाहते हैं।

हम इस उद्धरण से इतना ही स्पष्ट करना चाहते हैं कि मशीन पर अवलम्बित उद्योग-व्यवस्था में यही नहीं कि मालिक मजदूर नामक दो प्रतिद्वन्द्वी दल खड़े हो जाते हैं बल्कि सारा समाज ही श्रेणियों में बँट जाता है। यह कलमयी व्यवस्था का मौलिक दोष है। साम्यवादी शासन विधान में भी यह दोष दूर नहीं हो पाता क्योंकि वहाँ भी पूँजीवादी वर्ग का स्थान सरकार स्वयं ग्रहण कर लेती है। यह सब कैसे हो सकता है, इसका विस्तृत विवेचन थोड़े स्थान में नहीं हो सकता। यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा कि मशीनपर आश्रित उद्योग-व्यवस्था में समाज श्रेणीबद्ध होकर शोषण, द्वन्द्व और हिंसा-प्रतिहिंसा के विष—चक्र में फँस जाता है। आज भारत भी इसी कुचक्र का परिणाम भोग रहा है।

यह तो हुआ आन्तरिक स्थितिका विवेचन। इस उद्योग व्यवस्था का वाह्य रूप यह है कि बड़े-बड़े कारखानों की विराट् उपज को देश से बढ़कर विदेशों में खपाना अनिवार्य हो जाता है, विदेशी बाजारों को काबू में करने के लिए जब हँसी-खुशी और चाल-फरेब से काम नहीं चलता तो युद्ध और महायुद्ध पर आ बनती है। आज सारे संसार में जो संघर्ष छिड़ा हुआ है

वह या तो इस विदेशी बाजार के लिए है या बाजारों को कावू में रखने वाले अन्य आवश्यक साधनों के लिए है। एक ओर तो बाजार चाहिये, दूसरी ओर अपने कारखानों के लिए कच्चा माल चाहिए। इन दोनों दृष्टियों से भारत पर अंग्रेजों की आसक्ति है, उनका भारत में अमिट स्वार्थ है। इस स्वार्थ रचना का भार वह भारतीयों की मित्रता के भरोसे कभी नहीं छोड़ सकते। इसलिए उन्होंने भारतीयों को बाँट कर या लड़ाकर इस प्रकार दुर्वल वना देना चाहा कि वे अपनी सुविधाओं के अनुसार उससे अपनी स्वार्थ-पूर्ति कर सकें। इस विभाजन और पारस्परिक संघर्ष के लिए जो कुकृत्य उन्होंने किये हैं इसका उल्लेख तो भावी इतिहासकार ही करेंगे, परन्तु वर्तमान स्थिति यह है कि हिंसात्मक परिस्थितियाँ सहज ही संहारकारी सीमाएँ पार करती जा रही हैं।

इस प्रकार अव हम समझ सकते हैं कि कलमयी उद्योग व्यवस्था में शोषण और हिंसा अन्तर्हित है और इसीलिए गांधी ने सबसे पहले इस मशीनाश्रित उद्योग-व्यवस्था के निराकरण का प्रस्ताव रखा। इस कल निराकरण के लिए भी उन्होंने एक विस्तृत एवं वैज्ञानिक योजना प्रस्तुत की। परन्तु जहाँतक इस लेख का सम्बन्ध है, हमें इतना ही कहना है कि गांधीवादी अहिंसा का मूल सूत्र कल निराकरण में छिपा हुआ है। भारतीय सुख-शांति और सम्पदा के लिए हमें कलमयी व्यवस्था को छोड़कर चर्खात्मक उत्पादनपर आना ही होगा। यदि हम विनाश से बचना चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि हिंसा-प्रतिहिंसा की ज्वाला हमें भस्मीभूत न कर दे, यदि हम चाहते हैं कि इङ्गलैण्ड और अमेरिका का सारे एशिया को क्रीतदास वना रखने का भीषण षड्यंत्र निष्फल हो जाय तो हमें कलमयी व्यवस्था को

त्यागकर चर्खात्मक विधानपर आना ही पड़ेगा। यों तो चर्खात्मक विधान से समस्त विश्व में हिंसा-प्रतिहिंसा का नाश होकर शुद्ध एवं सामूहिक अहिंसा का उदय होगा, सुख और सम्पदा की स्थापना होगी, परन्तु भारत और एशिया के लिए तो यह प्राण-संजीवनी है। जितना ही शीघ्र हम इसे अपनायेंगे उतना ही अधिक हित होगा, उतनी ही जल्दी हम स्वतंत्रतापूर्वक उन्नति और उत्थान की ओर अग्रसर हो सकेंगे। यथार्थतः कलमयी व्यवस्था में मनुष्य की वास्तविक उन्नति हो ही नहीं सकती। जिसे आप उन्नति समझ रहे हैं वह केवल हिटलरशाही और चर्चिलशाही के गढ़ेमें पहुँचा देने के रास्ते हैं, जहाँ मनुष्य के चेतन व्यक्तित्व का नहीं, उसके जड़वादी विस्तार का ही प्राबल्य होता है और जो अन्त में स्वरचित "परमाणुबमों" से विनष्ट कर दिया जाता है। इस व्यवस्था में मानवता का नहीं, पशुता का साम्राज्य होता है। मानवता का वास्तविक विकास सामूहिक अहिंसा के विना असम्भव है। सामूहिक अहिंसा की सफल स्थापना के लिए गांधीजी के चर्खात्मक विधान का आश्रय लेना ही होगा।

इस प्रकार हमने साधन (अहिंसा) को समझने की कोशिश की है, अब इस सूत्र को पकड़ करसाध्य (सत्य) को समझना आसान होगा।

संसार तो सदा से सत्य का वखान करता आया है, परंतु गांधीजी संसार के पहले महापुरुष हुए हैं जिन्होंने सत्य को योजनापूर्वक, व्यवस्थित ढंग से व्यहार्य्य वनाया, उसे असली जामा दिया। जरा ध्यान से देखिये तो वात साफ हो जायेगी।

सच का मतलब यह है जो झूठ न हो। झूठ क्या है? आप दिनभर मोटे गद्दों पर ऐंठते और अकड़ते हुए मेहनत

मशक्कत से बिल्कुल दूर पड़े रहें और आपके भोजन के लिए पकवान, वस्त्र के लिए किमख्वाव, मोटर, महल, नौकरों का झुण्ड आपके इशारों पर दौड़ता रहे। दूसरी ओर एक दूसरा आदमी है जो विद्वान् और बुद्धिमान् है, जो सुबह से शाम तक कमाई के लिए खून पसीना कर रहा है, परंतु बेचारे को पेटभर भोजन भी मुयस्सर नहीं। सच क्या है ? उस आदमी की मेहनत या आपकी हरामखोरी ? गांधी जी ने इसको सरासर झूठ और चोरी बताया। उन्होंने कहा—"जो खाता है और कमाता नहीं, वह जरूर चोरी करता है।"

इस झूठ और चोरी से बचने के लिए अब सवाल यह होता है कि पौरुष और पुरुषार्थ का, रोजी का, कमाई का सच्चा तरीका क्या है ? तरीका कोई हो, इसमें तो कोई मतभेद ही नहीं हो सकता कि हमारा काम सत्य और अहिंसा के आधार पर होना चाहिये वरना वह कुछ भी हो, सर्वोदय की उससे हर्गिज सिद्धि न होगी।

सत्य और अहिंसा के साथ जब काम करने का, कमाने का सवाल उठता है तो हमें यही कहना पड़ता है कि हमारे कार्यों से दूसरों का शोषण नहीं होना चाहिये, हमारे मेहनत का हमें पूरा-पूरा बदला, पूरी-पूरी कीमत मिलनी चाहिये ; जो चीज हम पैदा करें उससे मानवता की रक्षा हो, मनुष्यता का मूल्य बढ़े और मनुष्य के व्यक्तित्व का उससे विकास हो और अंत में कुल को मिलाकर स्वावलम्बी और स्वसम्पन्न समाज की स्थापना हो सके। बिना इसके सत्य की स्थापना हो ही नहीं सकती। जरा गौर कीजिये—धान की लहलहाती खेती को उजाड़ कर नारियल के बाग लगाये गये इसलिए कि टाटा कम्पनी के हम्माम के साबुन तैयार हों। नतीजा यह हुआ कि लोगों के

पेट भर भोजन का साधन भी जाता रहा और अब उनके पेट के भी लाले पड़ गये हैं। धान की बखारों को खतम करके साबुन की टिकियाँ दिखाना—क्या सत्य का यही स्वरूप है। इसी प्रकार वनस्पति घी, बाटा के जूते, जूट, सुफेद चीनी,—सारा कलमय उद्योग सत्य के स्थान में असत्य की सृष्टि कर रहा है। इसलिए सत्य की स्थापना के लिए, सत्य के दर्शन के लिए, जीवन और समाज को सत्यमय बनाने के लिए, हमें सत्यमय रास्तों से चलना होगा यानी कलमय रास्तों को छोड़कर चर्खात्मक रास्तों पर आना होगा।

जरा सोचोचिये तो सही! मनुष्य के सारे ऐहिक कर्मकाण्ड में भोजन, वस्त्र और निवास को प्रमुखता प्राप्त है। एक-एक को लीजिये। भोजन के लिए हम क्या, कैसे और क्यों पैदा करते हैं, इसका सत्य और अहिंसा से बहुत बड़ा सम्बन्ध है। शकर को लीजिये। आज का किसान गेहूँ को छोड़कर गन्ने पैदा करने लगा है। गन्ना पैदा करके मिलों की निश्चित शर्त और निश्चित मूल्य पर वह सीधे उसे चीनी की मिलों में पहुँचा देता है। सच पूछिये तो अब वह अपने खेत का स्वतन्त्र मालिक नहीं, मिलों ा शर्तबंद एजेन्ट है। इस प्रकार उसमें स्वतंत्रता के विरुद्ध .क प्रकार से गुलामी के संस्कार उत्पन्न हो रहे हैं। उसके व्यक्तित्व का विकास होने के बजाय, ह्रास हो रहा है। इतना ही नहीं। पहले जिस खेत में अन्न पैदा करके वह अपने बाल-बच्चों को तृप्त और सुखी रखता था, अब उसी में गन्ने पैदा करके उसने उन्हें दूसरों का, दूकानदार और सौदागरों का, सरकारी राशन की दूकानों का मुहताज बना दिया है। बहुधा उन लोगों को भर पेट भोजन भी नहीं मिलता है। चूंकि गन्ने पैसों

के लिए बोये गये हैं इसलिए उन गन्नों से वह घर के बच्चों को भी वञ्चित रखने में ही भला समझता है। स्पष्टतः वह, इस प्रकार, भीषण हिंसा का कारण बनता है। इस प्रकार कलमय उत्पादन का व्यक्त और अव्यक्त परिमाण यही है कि चारों ओर झूठ और हिंसा का प्रसार होता है, सारा समाज झूठ और हिंसा से भर जाता है ; हमारी रहन-सहन, हमारे आचार-विचार, संक्षेप में, हमारी सारी जीवन-कल्पना ही झूठ, हिंसा, शोषण और अनाचार की सांसें लेने लगती है और अंत में जड़ता और कृत्रिमता का महारोग हमें महापतन की घातक यातना में फँसा देता है। मनुष्य की चेतन सत्ता, उसका व्यक्तित्व, सब सामूहिक जड़ता में बदल जाते हैं।

गांधी जी ने इस कलमय मानव को गौर से देखा, उसकी पतनोन्मुख गति का ध्यानपूर्वक परीक्षण किया और अंत में चर्खात्मक शास्त्र का विधान करके इस डूबती हुई दुनिया को उभार लेने की कोशिश की। उनकी इस कोशिश के पीछे विचारों की एक व्यापक और व्यवस्थित शृंखला है, कार्य्यों का एक सम्पूर्ण कर्मकाण्ड और उन सबसे मिलकर ही 'सर्वोदय' की पगडंडी बनी है। संसार को केवल इसी एक रास्ते से सत्य का दर्शन हो सकता है। सत्य के दर्शन से सारे संकट अपने आप दूर हो जायेंगे। मनुष्य का हिंसात्मक रूप बदल जायेगा। वह पूर्णतः अपनी प्रेममय प्रतिमा में प्रतिष्ठित होगा।

समस्याएँ

(१)

हमने कहा है कि इस समय विश्व में दो ही विचारधाराएँ काम कर रही हैं—मार्क्स और गांधी की, जिन्हें हमने "जड़वाद" और "चेतनवाद" के रूप में समझने की कोशिश की है। जहाँ तक फासिस्टवाद का सम्बन्ध है (इटली का फासिस्टवाद या जर्मनी का नाजीवाद हो) उसे सैद्धांतिक की अपेक्षा व्यावहारिक ही अधिक समझा जायेगा। किसी व्यक्ति या दल विशेष की तानाशाही ही इसकी जीवन गति होती है; शुद्ध वैचारिक आधार के लिए यह भी जड़वाद की ओर ही झुकता है। इसी लिए हम जड़वाद (मार्क्स) और चेतनवाद (गांधी) के तुलनात्मक अध्ययन में ही अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त करना चाहते हैं।

अतः सबसे पहले हम यह समझेंगे कि भारत की सामाजिक बनावट कैसी है, कैसी हो सकती है—और फिर उसी के ढाँचे में रखकर हम प्रत्येक बात को सुलझाने की कोशिश करेंगे।

मार्क्स का मत है कि मानव समाज का ढाँचा इसकी आर्थिक व्यवस्था का ही परिणाम होता है और आर्थिक व्यवस्था को, यथार्थतः, उत्पादन-क्रम का ही उद्भूत रूप समझना चाहिये। इस बात का स्पष्टीकरण मानव समाज की ऐतिहासिक समीक्षा से किया जाता है। कभी ऐसी स्थिति रही होगी कि लोग स्वच्छंद होकर यहाँ-वहाँ, कहीं भी, आखेट आदि

अथवा प्राकृतिक साधनों से ही उदर पोषण तथा जीवनावश्य-कताओं की पूर्ति कर लेते होंगे। स्वभातः ऐसी अस्थिर और निर्वन्ध दशा में मनुष्य का सामाजिक स्वरूप स्थिर नहीं हो पाता। मनुष्य की सामाजिक स्थिति के अभाव में इसके राजनीतिक, व्यावसायिक, सांस्कृतिक—इत्यादि इन अनेक गुणों की क्या स्थिति होगी सहज ही समझा जा सकता है। वास्तव में यदि यहाँ कुछ भी है तो वह केवल पारस्परिक संपर्क और संघर्ष में आने वालों की रीति-रिवाजों का समुच्चय मात्र ही हो सकता है। उसी प्रकार एक के उपरांत दूसरी परिस्थितियों के तारतम्य से, खेती-किसानी और उद्योग धन्धों की शृंखला बँधी है या यों कि हमारे उत्पादन का आधार और उसका पारिणामिक स्वरूप बदलता जा रहा है और जब जैसा रहा हमारा सामाजिक ढाँचा भी उसी तरह बनता बिगड़ता रहा।

यह बात, दृष्टितः, अपना अकाट्य अर्थ रखती है, परन्तु इसे मूल कारण मान लेना और इस गौण बात को प्रधान रूप दे देना ही अनर्थ बन जाता है। हमारा अभिप्राय जगत के भौगोलिक प्राधान्य से है जिसकी प्रेरणा से ही हमारा उत्पादना-धार निश्चित हो पाता है। इस भौगोलिक प्राधान्य का अर्थ केवल इसी एक प्रश्न से स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की सभ्यताओं ने उत्तरीय अथवा दक्षिणीय ध्रुव या सहारा की मरुस्थली के बजाय दजला-फरात, सिंधु, गंगा या नील नदी की घाटियों में ही क्यों जन्म लिया? इस प्रश्न की उत्तरात्मक व्याख्या सिद्ध करती है कि मनुष्य की सामाजिक प्रेरणाएँ भौगोलिक प्राधान्य में निहित हैं अर्थात हमारा उत्पादन-क्रम

हमारी भौगोलिक परिस्थितियों का परिणाम मात्र है। रूप-रेखा परिवर्तन होना असम्भव नहीं, परन्तु सैद्धांतिक आधार तथा क्रियात्मक और प्रेरणात्मक शक्तियों में अन्तर नहीं होता—वे सदा, सर्वत्र, शाश्वत रूप से कार्य करती रहती हैं। जब हम कहते हैं कि रूस अथवा भारत वर्ष कृषि प्रधान देश हैं तो हमारे वाक्य उसी भौगोलिक सत्य का प्रकाश करते हैं। भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है और रहेगा भी परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यहाँ वाणिज्य-व्यवसाय, उद्योग-धंधे कला-कारीगरी का अभाव अथवा स्थान गौण रहा है। भारत के उत्पादनाधार में परिवर्तन हुआ है और होना स्वाभाविक भी है परन्तु यह अधिकाधिक रूप-परिवर्तन ही रहा न कि तात्विक परिवर्तन। भारत के उद्योग धन्धे कला-कारीगरी, वाणिज्य और व्यवसाय विश्व विस्मय के कारण बने रहे परन्तु वह सब कुछ कृषि के आधार पर, उसके सामञ्जस्य और समतुलन को लेकर ही विसफारित हुए थे।

ब्रिटिश द्वीप समूह के जल-वायु तथा वानस्पतिक उपज को ध्यान में रखते हुए जब हम नकशे में उसकी भौगोलिक स्थिति पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह समझाने में कष्ट नहीं होता कि अपनी जीवनावश्यकताओं की पूर्ति तथा अपने वृद्धमान अस्तित्व को सुदृढ़ विस्तार देने के लिए साहस तथा कुशल नाविकता उसका जातीय स्वभाव क्योंकर बन गया जिसने उसे समस्त संसार पर आच्छादित होने में सहायता दी और इन्हीं अन्तरधाराओं ने उसे नयी तथा पुरानी दुनिया का विनिमय केन्द्र बना दिया। अगरेजों को भौगोलिक परिस्थितियों का ही लाभ मिला है। एक सफल व्यापरी जाति बनने में,

उसकी उपज तथा उद्योग धन्धों की विशेषता में, ब्रिटेन की भौगोलिक परिस्थितियाँ विशेष महत्व रखती हैं। उसी के अनुसार उसकी रीति-रिवाज, समाज रचना तथा राजनीति का विकास हुआ है। वर्तमान कलमयता तथा 'औद्योगीकरण' के बावजूद ब्रिटेन, जर्मनी, रूस, प्रत्येक की सामाजिक बनावट, रीति-नीति तथा राजनीति, अर्थात् समस्त जातीय विशेषता में महान अंतर है; इतना ही नहीं; तुर्की, अरब और भारतवर्ष में उसी एक इसलाम धर्म का व्यावहारिक स्वरूप विभिन्न प्रकार से प्रकट होता है। यह भौगोलिक प्राधान्य का ही प्रतिफल है कि सीता के सतीत्व का आदर्श भारत के भौतिक प्राचुर्य में ही फूला-फला जब कि युनान के संकुचित जीवन में हेलेन के पतिभक्ति से आगे बढ़ना उसके लिए कठिन सिद्ध हुआ। देश-देश का अपना चरित्र और अपना स्वभाव, अपनी रीति-नीति, सामुहिक अर्थों में, अपनी जातीय विशेषता इसी भौगोलिक प्राधान्य से निर्मित होती है। ब्रिटेन और रूस के प्रजावाद में महान अंतर है और रहेगा—क्यों ? क्योंकि उनकी अपनी-अपनी जातीय विशेषताएँ हैं जो भौगोलिक परिस्थितियों से ही संचारित होती हैं। जर्मन सदा से युरोप की अग्रसर जाति रही है और गेहूँ तथा अंगूर के लहलहाते हुए खेतों में आनन्द पूर्वक विचरने वाले, फ्राँस का जातीय स्वभाव सुखभोग तथा रक्षात्मक नीति बन गया है। प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की रीति-नीति, रङ्ग-ढङ्ग तथा उत्पादन-क्रम में उसका भौगोलिक प्राधान्य ही क्रियात्मक शक्ति बनता है। समान मशीनाधार होते हुए भी जर्मनी, फ्राँस और रूस का उत्पादन-क्रम प्रादेशिक विभिन्नता से ही प्रयुक्त होता है। औद्योगीकरण को जिस प्रकार इङ्गलैण्ड अपना सकता

है, उसका जो रूप और परिणाम इङ्गलैण्ड में होता है, जर्मनी और भारत में उसी का अङ्गीकरण, रूप और परिमणाम उससे भिन्न ही होगा। इस प्रकार इङ्गलैण्ड वाले औद्योगीकरण का भारत की सामाजिक बनावट पर भिन्न प्रभाव पड़ेगा। इङ्गलैण्ड, जर्मनी, तथा भारत का भेद इसी भौगोलिक प्राधान्य के अंतरगत समझा जा सकता है और मार्क्स के ऐतिहासिक निष्कर्ष का कौतूहल भी इस स्थलपर शिथिल पड़ जाता है। इस सिद्धांत को समुचित रूप से समझने के लिए कहना पड़ता है कि यदि इङ्गलैण्ड का उत्पादन क्रम स्वाभाविक स्वत्वों के आधार पर हो, अर्थात अन्य देशों से बलात और कुटिलता पूर्वक प्राप्त किये हुए कच्चे माल पर निर्भर और निर्धारित न हो तो ब्रिटेन में मैनचेस्टर या लङ्काशायर बनने की अपेक्षा भारत में सूरत, अहमदाबाद या बम्बई की स्थापना से ही खेल समाप्त हो जाये। ब्रिटिश जहाजरानी, उसका साम्राज्यवाद, लन्दन का विनिमय बाजार, इन सारी उत्पीड़ाओं से संसार का उद्धार हो जाय। संक्षेप में, इस दुनिया की एक दूसरी ही शकल नजर आये। कहने का अभिप्राय, विश्व की आर्थिक व्यवस्था को समझने के लिए उसकी भौगोलिक विशेषता को समझना होगा।

अब यह असंदिग्ध-रूप से स्पष्ट हो गया है कि इङ्गलैण्ड, अमेरिका या रूस का आर्थिक विधान भारत को उसी रूप में कदापि मान्य नहीं हो सकेगा। हम अपनी भारतीय स्वसम्पन्नता को 'कल' प्रेरित अन्तर्राष्ट्रीय परालम्बन के हवन-कुण्ड में भस्मी-भूत करके कलाधिपतियों का शिकार नहीं बनना चाहते। भारत की सारी योजनाएँ इसी भौगोलिक सत्य को लेकर निर्मित होती हैं। विदेशी और भारतीय योजनाओं में इसी एक भौगोलिक

सत्य का अन्तर है (इस वात को अधिक विस्तार से समझने के लिए नवभारत के तीसरे संस्करण को देखें)।

अब यह समझने में वाधा नहीं हो सकती कि मार्क्स की इतिहास निष्ठ परिपाठी का भौगोलिक सीमाओं के अन्दर ही विकास हो सकता है। इस तरह भारत की समस्याओं को भारतीय ढंग से ही सुलझाया जा सकता है, यानी भारत का कल्याण मार्क्स के जड़वाद से नहीं, गांधी की चेतनमय और मानवी योजनाओं से ही होगा।

जड़वादी और चेतन रास्तों की अपनी अपनी दो अलग विशेषताएँ हैं। पहला वर्ग-द्वेष और अन्तर्द्वन्द्व से जीवन प्राप्त करता है, दूसरे का गुण है अहिंसा, उत्सर्ग, सामूहिक समन्वय और सामाजिक सामञ्जस्य। यह तो विल्कुल मोटी वात है कि जो चीज द्वेष और घृणा पर आधृत है, वह अधिक से अधिक काम करने का एक तरीक़ा हो सकता है, परंतु वह प्राणी का स्थायी जीवन दर्शन तो वन ही नहीं सकता। स्पष्टतः मार्क्स के द्वन्द्वात्मक सिद्धांतों में कोई दम नहीं है; उन्हें लेकर दुनिया को उसी प्रकार धोखा देना है जैसे अवोध शिशु को, जिसकी माँ मर गयी है, यह भुलावा देना कि तेरी माँ आ रही है।

परंतु गांधी के समन्वयात्मक मार्ग को अपनाने के पहले उसकी वारीकियों को अच्छी तरह समझ रखना होगा। गांधी जी ने वर्गों को नष्टभ्रष्ट करके नहीं, वर्गों के समन्वय से ही सामूहिक समता और शांति की सलाह दी है, अन्यथा मार्क्स के वर्ग संघर्ष और गांधी के रचनात्मक मार्ग में कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा। यही कारण है कि गांधी ने हरिजन आन्दोलन को उत्कट रूप से चलाते हुए भी हरिजनों को यह

सलाह नहीं दी कि वे समाज के स्वास्थ्य और सफ़ाई की जिम्मेदारी को छोड़कर मन्दिर के पुजारी बन बैठें और न उन्होंने ब्राह्मणों को यह सलाह दी कि वे समाज के शिक्षण और अध्यापन कार्य को छोड़कर केवल नगर पालिकाओं के पाखाने साफ़ करते फिरें। उन्हों ने तो केवल कार्यों के पीछे नीच-ऊँच की भावना को, कार्यों के एकाधिकार को, मिटाकर सम्मिलित और समन्वित जीवन व्यापार की ही सलाह दी है। इस तरह गांधी जी के वर्गविहीन समाज में वर्णधर्म का क्या स्थान है, साफ़ समझा जा सकता है (नव भारत के तीसरे संस्करण में इस प्रश्न का पूर्ण विस्तार के साथ विवेचन किया गया है)।

हम अच्छी तरह समझते हैं कि देश में पूर्ण शांति का वातावरण उत्पन्न किये बिना किसी प्रकार के आर्थिक या सामाजिक उत्थान की कल्पना दुराशा मात्र होगी। शांति के लिए संघर्ष के कारणों को तत्काल दूर करने की ज़रूरत है और इन कारणों में, पाकिस्तानी प्रश्नों के अतिरिक्त, संघर्ष के जो दूसरे कारण हैं, उनमें से अधिकांश के पीछे देश की आर्थिक दुरावस्था ही कार्य कर रही है। इसलिए यह साफ़ तौर से समझ लेने की ज़रूरत है कि हमारी आर्थिक और औद्योगिक नीति क्या होनी चाहिये,—नीति निर्धारित हो जाने पर विवरण अपने आप तय हो जाया करते हैं।

(२)

खैर, मूल प्रश्न यह है कि, आज सारे देश में करोड़ों ग्राम्यवासी दुर्बल और निरीह हो गये हैं, देश भर का आर्थिक प्रवाह गति-हीन सा हो रहा है, श्रम और उत्पादन में उन्हें उत्साह नहीं। जीवन भारी बोझ बन रहा है; अन्न-वस्त्र के अभाव से उत्पीड़ित, घर द्वार की तंगी और फटे-हाली से

से व्यग्र, जीवन-सुख, से शत-प्रतिशत वंचित, दीन-दलित, शोषित और शासित, रोगी तथा चिंतित जन-बाहुल्य दिनो दिन बढ़ता ही जा रहा है। ऐसी दशा में यदि हमारा आर्थिक विवेचन कुछ भी हो सकता है तो वह केवल इस नर-भक्षी कंकाल को दूर करने का एक वैज्ञानिक आयोजन ही होगा, जहाँ रोग और भूख से मर-मर कर सड़कों पर सड़ती हुई लाशों के बीच भव्य मोटरों में सुस्वादिष्ट भोजन से परिपूर्ण निर्मोही (Unfeeling) सवारियों की स्वच्छंद गति देखने को न मिले, जहाँ छोटे-बड़े के बीच कोई निरवंधनीय दूरी न हो, जहाँ उन्नति और उत्थान की दौड़ में सब के लिए सुख-सम्पदा का समान अवसर हो, जहाँ समाज को श्री और समृद्धि की प्राप्ति में कोई कृत्रिम बाधा न हो। यदि ऐसा नहीं है, यदि करोड़ों भूखी हड्डियों पर कुछ लोगों को गुल-गुल मांस का स्तूप बनने का विधान है, यदि घास-फूस के खाली घरों के जोड़ से इम्पीरियल बैंक के स्वर्णपूर केन्द्र स्थापित करने के तरीके हैं, यदि रोटी के टुकड़ों के लिए रें-रें, भिनकते हुए नंगे लोगों को रेशम और किमख्वाब से लदे हुए प्राणियों द्वारा उपेक्षित होना पड़े तो हम ऐसे विधान को अर्थ शास्त्र या विज्ञान नहीं, झूठ, फरेब, मक्कारी और राहज़नी कहेंगे। यदि भूखे-नंगे, गृह-हीन, दीन-दुर्बल लोगों के श्रम और उत्पादन, उनके कर और लगान, से अमीरों की सम्पत्ति स्थिर होती है, दिल्ली में धारा-सभा तथा आतिथ्यगृह की भव्य अट्टालिकाएँ खड़ी की जाती हैं, यदि उजड़े हुए जीवनहीन गाँवों के टूटे हुए ढाँचों पर दिल्ली की मोटर और विद्युतपूर्ण रेल-ठेल का निर्माण किया जाये, यदि रोटी-धोती के लिए मुहताज नर-कङ्कालों पर हुकूमत करने के लिए करोड़ों-अरबों के व्यय से चलने वाली एक जटिल सरकार का खर्च निकाला जाने

वाला कर-पूर्ण विधान तैयार होता है तो हम निःशङ्क होकर कह देंगे कि वह व्यवस्था सर्वथा दूषित और मानवता (Human-Values) से शून्य है और साथ ही साथ यह कि उससे राष्ट्रीय-आय (National Dividend) भी दूषित हो जाती है, बल्कि यह भी कि वह राष्ट्रीय नहीं, सरासर अराष्ट्रिय विधान है। हम ऐसी अवैज्ञानिक, दूषित और अमानुषिक व्यवस्था का कदापि समर्थन नहीं कर सकते जिसमें जनता के सुख-समृद्धि को नहीं, कुशल और योग्य पुकारी जाने वाली केवल एक अनावश्यकतः महँगी और जटिल सरकार को ही बल प्राप्त होता है।

हम कभी स्वीकार नहीं कर सकते कि एक को दूसरे के खून से मोटा होने की व्यवस्था की जाय, हम कभी नहीं देख सकते कि हमारी फूल सी बहनें पेट के लिए दालमंडी, फारस-रोड, या कलकत्ता के नारकीय जीवन में घुल-घुल कर मर-मिटें। हमारी आर्थिक योजनाएँ नैतिक साम्य से ही संचारित होनी चाहियें। जैसा कि गांधीजी कहते हैं, अर्थ और नीति शास्त्र में कोई विशेष अंतर नहीं है। जिस आर्थिक विधान में व्यक्ति या राष्ट्र का सौम्य स्वरूप नष्ट हो, उसके कल्याण पर आघात हो, वह विधान नहीं, अनीति है। अनीति अर्थात् पापाचार है। वास्तव में, जब तक आर्थिक निर्माण का उत्तरदायित्व मनुष्य की नैतिकता पर अवलम्बित नहीं होता, समाज की संघठन धुरी टूट जायगी, बेकारी और शोषण का महारोग समस्त संसार को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। कोई भी शुद्ध आर्थिक विधान शोषण और दासता को स्थान नहीं दे सकता। बल्कि उसमें आध्यात्मिक बल भी होना चाहिये ताकि मनुष्य की आर्थिक स्फूर्तियाँ विकास की लम्बी यात्रा में प्रबल परिणाम

उपस्थित कर सकें। इसी बात को, और भी आगे बढ़कर गांधी जी दूसरे ढंग से यों कहते हैं—अर्थ शास्त्र का वास्तविक ही है कि वह मनुष्य काम धर्म बन सके। अर्थात् जो बात मूल्य धर्म रूप से ग्रहण नहीं की जा सकती वह त्याज्य है और समाज का उससे कोई स्थायी हित होना भी असम्भव है।

वस्तुतः भारतीय अर्थशास्त्र की नीव समाज शास्त्र पर खड़ी होनी चाहिये। यही कारण है कि यहाँ सर्व-प्रथम मानव समाज के मूल कारण और उसकी अन्तर-धाराओं पर विस्तृत विचार करते हुए मनुष्य की आर्थिक प्रेरणाओं को स्थिर करने की चेष्टा होनी चाहिये। दृष्टान्ततः, भारतीय समाज शास्त्र का अध्ययन करते समय हम देखते हैं कि यहाँ सती और सद्-गृहस्थ को विशेष महत्व दिया गया हैं क्योंकि दोनों के पारस्परिक सहयोग और सुपरिश्रम से ही गृहस्थाश्रम की आर्थिक बेल हरी-भरी रहती थी, क्योंकि इस गृह-समूह से ही उसके समाज का रूप निर्मित हुआ था अर्थात् समाज के सुख-सम्पदा का सूत्र सुदृढ़ गार्हस्थ्य और दाम्पत्य-विधान में छिपा हुआ है। यह भी एक सर्वनिष्ठ (Common) बात है कि समाज की श्री और समृद्धि, उसका विकास, दृढ़ता और स्थायित्व उसके आकार-प्रकार, उसके पोषक और विधाय अव्यवों से ही संपुष्ट होते हैं; अतएव भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिए समाज शास्त्र पर भी एक सूक्ष्म दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है ताकि भारत की अपनी उस विशेष सामाजिक रचना को समझने में सहायता मिले जो इसे अपने एक विशिष्ट आर्थिक विधान की प्रेरणा देती है। अभिप्राय यह कि भारत की आर्थिक योजनाएँ इसके सामाजिक स्थिति को लेकर ही बननी चाहियें।

किसी देश का आर्थिक स्वरूप उसकी भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है, यही कारण है कि भारतीय सभ्यता, स्वभावतः पाश्चात्य के प्रतिकूल 'शहरी' संकुचन की अपेक्षा ग्राम्य-विस्तार पर अवलम्बित है जो (ग्राम्य विस्तार) हमारी भौगोलिक परिस्थितियों में सहज ही प्राचुर्य्य का प्राप्त होकर युग-युगांतरों में भी अविचल वनी रही और उसे उलटने के प्रयत्न मात्र से वह चलायमान हो उठी है। अस्तु, यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि जन-वृद्धि के लिए अमित और स्वच्छंद साधन प्राप्त हैं। और इस विशेषता का ही प्रभाव कहना चाहिये कि उत्पादन के दो मुख्य साधनों—श्रम और पूँजी - में हमारे पास श्रम (मानव तथा पशु) का वाहुल्य सदा से चला आ रहा है। परिणामतः भारत का आर्थिक संघठन पूँजी नहीं, श्रम प्रधान होना चाहिये। परन्तु इन पिछली दो शताब्दियों से उल्टी ही धारा वही है जिनसे हमारे समस्त जीवन-क्रम को विघटित-सा कर दिया है। वस्तुस्थिति यह है कि हमें न तो उत्पादन-क्रम को तीव्र करना है, न तो साम्यवादी वँटवारे की समस्या सुलझानी है, वल्कि इन सवको हाथ में लेने के पहले, सवसे पहले, श्रम वाहुल्य को लेकर सारा आर्थिक ढाँचा फिर से खड़ा करना है।

हम कह चुके हैं कि भारतीय सभ्यता ग्राम्य प्रधान है, अतएव इसके आर्थिक संघठन की भित्ति ग्राम्य-सम्पन्नता पर ही खड़ी की जा सकती है। देश-देशांतरों के व्यापक संपर्क, वाणिज्य-व्यवसाय के वैदेशिक श्रेय को लेते हुए हमारे आर्थिक विधान में स्व-सम्पन्नता (Self-contentedness) की ही प्राण प्रतिष्ठा होनी चाहिये। जीवन पदार्थों की पूर्ति, यथा-साध्य, उसी गाँव या प्रान्त की सीधी सादी अदल-वदल द्वारा

सुलभ वना लेना अधिक हितकर है। परिणामतः सरल से विनिमय के लिए किसी दुरूह और पेचदार माध्यम की आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होगी। परन्तु आज कच्चे माल के उत्पत्ति-स्थान और उनके कारखानों के बीच लम्बी दूरी होने तथा उत्पादन के व्यापारी-करण से अंतर्राष्ट्रीय परा-वलम्बन की लाचारियों के साथ ही एक कृत्रिम और अस्वाभाविक "मुद्रानीति" (Money Economy) के शिकंजे में फँसकर हम जीवन-मरण की श्वांसें ले रहे हैं। पश्चिम में मुद्रा की आवश्यकता अनिवार्य हो सकती है जहाँ एक देश को किसी दूर-दराज़ देश की उपज से जीवन की आवश्यकताएँ पूरी करने के निमित्त सुगम विनिमय तथा स्वगामी मुद्रा से ही स्वार्थ सिद्ध होता है, परन्तु भारतीय परिस्थितियाँ पश्चिम के बिल्कुल विपरीत हैं; अतएव, यहाँ 'मुद्रानीति' के वजाय वस्तु-विनिमय (Barter) को ही प्रामुख्य प्राप्त हो सकता है। इस संबंध में यहाँ इतना ही कहना है कि मुद्रा के असीमित व्यवहार और स्वच्छंद प्रवाह ने संसार की प्राकृतिक अर्थ-नीति (Economies) को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। संसार की वर्तमान मुद्रानीति को हम इसके आर्थिक वैषम्य का एक प्रबल कारण मानते हैं जिससे मुद्राधिपतियों को साधारण लोगों पर सहज ही व्यापारी प्रभुत्व (Bargaining Power) प्राप्त हो जाता है। एक मुद्राधिपति मुद्रा-हीन लोगों से अधिक दृढ़ता और स्वार्थ पूर्वक सौदा करता है और इस प्रकार वस्तु का वस्तु से कभी भी समान और स्वाभाविक विनिमय हो ही नहीं सकता। विनिमय विधान के दूषित हो जाने से समाज का जीवन क्रम ही दूषित हो जाता है। इतना ही नहीं, वस्तु के वजाय माध्यम, अर्थात् साध्य (End) के वजाय साधन (Means) का प्रावल्य स्थापित हो जाता है,

"माँग और पूर्ति की प्रेरणाएँ" अर्थहीन हो जाती है। 'मुद्रा-नीति' को वर्तमान रूप में ग्रहण कर लेने का अर्थ यह है कि नश्वर (वस्तु पदार्थ) का 'अवनाशी' (मुद्रा) से विनिमय किया जाता है और इस प्रकार एक को दूसरे के साथ अनुचित दौड़ लगानी पड़ती है। यह तो हम नित्य देखा करते हैं कि बेचारे गरीब किसानों को केवल अपना कर्ज और सरकारी लगान चुकाने के लिए अपने खून से उपार्जित अन्न का बहुतांश खेत से घर आने के पूर्व ही, सेठ-साहूकारों के हाथ, उन्हीं के मन चाहे दामों पर, बेंच देना पड़ता है। यह दशा और भी हृदय विदारक बन जाती है जब बेचारे उस किसान को उन अपने ही उपार्जित दानों-दानों के लिए मुहताज हो जाना पडता है अथवा पाये हुए मूल्य से भी अधिक चुकाने के पश्चात् उसे उन दानों को फिर वापस लेना पड़ता है। मुद्रा में स्थायित्व का होना परमावश्यक हो गया है। ताकि वह वर्षों, तहखानों में दबे रहने पर भी खराब न हो सके परन्तु लघुलपेट तो यह है कि इस स्थायित्व ने ही संसार की व्यवस्था को भ्रष्ट कर दिया है। लोगों को मनमाना खर्च करने का अवसर मिलता है और वह अपने खर्च में समाज या राष्ट्र की आवश्यकताओं को सुगमता पूर्वक नजर अन्दाज कर जाते हैं। अतएव हमारे आर्थिक आयोजन में मुद्रा-नीति की अपेक्षा वस्तु-विनिमय को विशेष स्थान मिलना चाहिये।

यदि मुद्रा-नीति को त्याग दिया जाय तो विवशतः सरकार को अपनी शासन व्यवस्था वस्तु-पदार्थ के आधार पर खड़ी करनी पड़ेगी। परिणामतः शासन अति सरल और अधिक निर्दोष तथा सरकार सस्ती हो जायगी।

देशस्थ व्यवहार में सरकारी सुव्यवस्था के अतिरिक्त,

सामाजिक शांति के निमित्त भी मुद्रा-नीति का परित्याग आवश्यक प्रतीत होता है। यह सर्व विदित दशा है कि वर्तमान युग में आर्थिक अस्थिरता का एक बहुत बड़ा कारण मुद्रा-नीति से ही उत्पन्न होता है जहाँ नित्य साम्पत्तिक उलट-फेर की हृदय विदारक लीलाएँ देखने में आया करती हैं जो सामाजिक अशांति की कटुतर प्रेरणा करती रहती हैं।

वर्तमान संसार की दशा बड़ी शोचनीय है। विश्व-संहारी नरमेध की प्रचण्ड ज्वालायें धाँय-धाँय जलती हुई फैलती ही जा रही हैं। करोड़ों अरबों लोग भूख, दरिद्रता, रोग और उत्पीडा के चक्र में नियमित रूपसे घुल-घुल कर नष्ट हो रहे हैं। गार्हस्थ्य-विधान छिन्न-भिन्न हो गया है। बड़े-बड़े बैंकों के सुदृढ़ 'स्ट्राँग रूम' भी सुरक्षित नहीं मालूम पड़ते। हमारी धन-राशि को मुद्रा-स्फीति बहाये ले जा रही है। विमानों द्वारा देव लोक की सैर के स्थान में विध्वंस की योजनाएँ बढ़ रही हैं, नित्य नये रोग पैदा हो रहे हैं, डाक्टरी विज्ञान भी परेशान है। चारों ओर खून की नदियाँ बह रही हैं, व्यभिचार और गर्भ-पात, चोरी और राहजनी का बाजार गर्म है। रोटी के लाले पड़े हुए हैं, भाई भाई का गला काटकर आराम की खोज में भटक रहा है। एक देश दूसरे को हाड़ और माँस सहित हड़प कर जाने की फिकर में सर्वस्व की बाजी लगा बैठा है। कोकेन और गुलामी का व्यापार संगठित रूप से चल रहा है। उद्धार का मार्ग छोड़कर हम तेजी से पतन की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

हमारे कार्य-क्रम का सारा ढङ्ग ही बदल गया है। जुलाहे, बढ़ई, किसान और कारीगर का अस्तित्व मिटता जा रहा है, जो प्रत्येक वस्तु बनाकर देखते थे, देखकर पहले स्वयं प्रसन्न होते थे और इसमें अपना पुरुषार्थ मानते थे, उन्हें कार्य में

अभिरुचि थी, आत्म संतोष होता था और था और इस प्रकार संसार के प्रत्येक कार्य, प्रत्येक पदार्थ में मानव-अंश (Human Touch) का समावेश होता था। खरीदार के साथ विचार विनिमय के पश्चात् आवश्यकतानुसार, चीजों में पुनः सुधार या कमी-वेशी की जाती थी। इस प्रकार बनाने और बरतने वालों के पारस्परिक आत्म-संतोष के साथ प्रत्येक काय में अभिरुचि और प्रत्येक वस्तु के सदुपयोग की व्यवस्था की जाती थी। परन्तु अब कारीगर मनुष्य नहीं, "कल-कारखाने का एक अंग है, जो प्रति क्षण, प्रति दिन उसी नन्हें से कार्य में लगा हुआ है? बल्कि वह अब एक 'स्वगामी-यंत्र' (Automaton) मात्र शेष रह गया है जिसके "भरोसे" पर कल-कारखानों की दुनिया घड़-घड़ाती हुई आगे लड़खड़ाती जा रही है। वास्तव में मनुष्य अब मशीनों का पुर्जा मात्र रह गया है, जैसे पुर्जा संपूर्ण मशीन के बिना व्यर्थ है, उसी प्रकार मनुष्य भी मशीनों के बिना कार्य करने के गुण को त्यागता जा रहा है और इस प्रकार मशीनों पर उसकी आत्म निर्भरता उसके मानव—माहात्म्य को निर्मूल बनाती जा रही है। मशीनों को लेकर मनुष्य प्रकृति पर विजय का सिंहनाद करने लगा है। वह रोज कारखाने जाता है, निश्चित समय तक काम करके चला आता है। उसने क्या बनाया, शायद उसे भी नहीं मालूम। वस्तुतः, परन्तु उपहास पूर्वक, वह कार्य-विशेषज्ञ है परंतु है अधूरा ही। कार्य या वस्तु के संपूर्ण ज्ञान से भी बेचारा यह विशेषज्ञ शून्य हो रहा है। वह शकल तो अब भी मनुष्य की पूरी-पूरी रखता है परन्तु उसका वस्तु ज्ञान घटता ही जा रहा है। हम उसे मनुष्य कह सकते हैं पर वह अब बढ़ने के बजाय वस्तु के पूरे ज्ञान के स्थान में आंशिक ज्ञान

को लेकर अधूरा ही रह गया है। उसने जो कुछ बनाया कहाँ गया, कौन जाने ? परिणामतः बनाने वाले का बरतने वाले से कोई लगाव, कोई सरोकार नहीं। अमेरिका में पशु मारे जाते हैं, वहीं पकाकर डिब्बों में बंद करके इंगलैंड के घरों या चीन की खाइयों में खाये जाते हैं; परंतु पकाया किसने, खाया किसने—कोई नहीं जानता। न किसी को किसी से शिकायत है, न कोई किसी के भले-बुरे का देनदार है। इतना ही नहीं; बनानेवाले का बनानेवाले से भी कोई वास्ता नहीं। हजारों लोग, एक-एक कारखाने में, प्रातः भेड़-बकरियों के समान घुस जाते हैं और संध्या समय कुछ पैसों के लिए पशुवत् परिश्रम के उपरांत, घर रूपी दो-चार हाथों के संकुचित परिमाण से बने हुए "दरबों" में भेड़-बकरियों के समान ही रोग-ग्रस्त और अभाव पूर्ण जीवन की यातना झेलने के लिए जा रहते हैं। इस प्रकार बढ़ी हुई मजदूरी की तृष्णा में मनुष्य मानव-स्वत्व का दाँव लगाकर, नित्य-निरंतर, गाड़ी के पहिये के समान घूमता जा रहा है।

मशीनों के साथ मशीन बनकर, लोग निश्चित ढर्रे में लगे रहते हैं। उन्हें आपस में निजी सलाह मशविरे की भी जरूरत नहीं पड़ती। मशीनों के ढाँचे में हमारा उत्पादन क्रम स्वच्छंद विस्तार को प्राप्त हो रहा है। परिणामतः लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध कृत्रिम हो गया है। इस प्रकार कारखानों की परिधि में संसार की गाड़ी उलट-पुलट रही है, और वस्तु-स्थिति यह है कि लोग अपनी-अपनी में उलझ गये हैं, स्वार्थ मनुष्य का एक निश्चित स्वभाव सा बन गया है।

पहले जुलाहे कपड़े बुनते थे, कारीगर घर बनाते थे, लुहार, सुनार, जौहरी सभी अपने-अपने धन्धे में लगे हुए थे। आज,

चारों ओर बेकारी नजर आ रही है। अब ग्राम्य व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो गयी है, स्व-सम्पन्नता एक दुखांत गाथा के रूप में शेष है। गाँव वालों को खेत में बीज डालकर फसल काट लेना भर ही शेष रह गया है, यहाँ तक कि धान की भूसी भी खेत से सैकड़ों मील की दूरी पर छुड़ाई जाती है। संक्षेप में, एक-एक मशीन हजारों मनुष्य का कार्य करती है और एक-एक कारखाने में अनेकों कार्य होते हैं। कारखाने में थोड़ा काम होता नहीं, वरना कारखाने का खर्च भी निकलना कठिन हो जाय। इस प्रकार, एक कारखाना हजारों-लाखों लोगों की आवश्यकता पूरी करता है। जितने कारखाने होंगे उतनी ही अधिक उपज होगी और फिर उसकी खपत के लिए ग्राहक और बाजार चाहिए। यहाँ आकर प्रतिस्पर्धा, द्वन्द्व और वैमनस्य का जन्म होता है। बाजार और खरीदारों को काबू करने के लिए जब चालबाजी और धोखे से भी काम नहीं चलता तो युद्ध छिड़ता है। रूस और जापान, जापान और अमेरिका, अमेरिका और जर्मनी, जर्मनी तथा इङ्गलैण्ड का मरणांतक युद्ध इसीलिए होता है। राष्ट्र-राष्ट्र में खून की नदियाँ बहती हैं, प्रतिस्पर्धा तथा व्यावसायिक द्वन्द्व के कारण व्यापार मारे जाने से लगे-बंधे मजदूरों की भी मजदूरी घटने लगती है, बेकारी बढ़ने लगती है; बेकारी की बाढ़ से गरीबी, गरीबी में अनाचार और अराजकता का साम्राज्य स्थापित होता है, धीरे-धीरे गृह युद्ध से नरमेध की आ बनती है।

कलमय उद्योग व्यवस्था स्वभावतः केन्द्रीकरण की व्यवस्था है। पिछली दो सदियों का इतिहास इसका स्पष्ट प्रमाण है कि मनुष्य ने इसके द्वारा साधनों में अपार विस्तार कर लिया है, परन्तु वे सब अधिकतर जीवन के कृत्रिम साधन हैं। इनसे मनुष्य

की आवश्यकताएँ घटने के बजाय बढ़ गयी हैं, सुख शांति के बजाय अशांति ही अधिक हाथ लगी है, संसार का संघर्ष व्यापक और भीषणतम होता जा रहा है। ज्यों ज्यों हम समस्या को सुलझाने की कोशिश कर रहे हैं वह अधिकाधिक उलझती जा रही है। मार्क्स, ऐंगिल्स, हिटलर, हूवर – कोई भी उद्धार का रास्ता नहीं निकाल सका है। इसलिए मजबूर होकर दुनिया ने गांधी की 'चर्खात्मक" योजना की ओर नजर दौड़ायी है जिसे 'विकेन्द्रीकरण' की व्यवस्था कहते हैं।

हम कल कारखानों और चर्खात्मक उद्योग व्यवस्था को एक साथ रखकर देखते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि दोनों मनुष्य को दो विरोधी दिशा में ले जाते हैं। बड़ी बड़ी फैक्टरियाँ और कारखानों की व्यवस्था का गुण है—केन्द्रीकरण, एकाधिकार (वैयक्तिक या सरकारी) प्रतिस्पर्धा, शोषण, संघर्ष और विनाश। विश्व को हिला देने वाले क्रूगर और पनामा के दिवाले, लाखों-करोड़ों प्राणियों के जीवन-मरण का प्रश्न १०-५ व्यक्तियों के रूप में समझी जाने वाली समितियों, सरकारों या मंत्रिमंडलों के हाथ में आ जाना, एटम बमों का प्रयोग, नाजीवादी संघटन, भारत का साम्प्रदायिक रक्तपात और विध्वंस. ये सब इसी यांत्रिक व्यवस्था की देन है। चर्खात्मक उत्पादन (घरेलू उद्योग धन्धे) हमें ठीक इसी की विपरीत दिशा में ले जाता है। कल कारखानों के केन्द्रीकरण के विरुद्ध विकेन्द्रीकरण इसका प्रमुख लक्षण है। चर्खात्मक उत्पादन को 'निःकल' डि-मेकानाइज्ड) और विकेन्द्रित (डि-सेंट्रलाइज्ड) का ही उद्भूत रूप समझना चाहिये। इसके उत्पादन के साधन (मीन्स आव् प्रोडक्शन) अधिकांश वही रह जाते हैं जो एक-एक व्यक्ति के स्वतंत्र संचालन के लिए

क होते हैं। अतः उन पर सरकारी अधिपत्य का भी ... नहीं उठता। उत्पादन के साधनों पर जब सरकारी अधिपत्य की आवश्यकता नहीं रह जाती (क्योंकि व्यक्तियों के चूल्हा, चक्की, घानी, चर्खा, कर्घा, सिंगर मशीन, टाइपराइटर आदि आदि पर नियंत्रण रखना सरकार के लिए असंभव और हानिकारक, दोनों है) तो शासन यंत्रों पर सरकार के बलात् कब्जा रखने का प्रश्न भी समाज के सम्मुख नहीं उठता। इस प्रकार उत्पादन के साधनों के इर्द-गिर्द सरकार और समाज के बीच चलते रहने वाले हिंसात्मक संघर्षों का लोप हो जाता है। लोगों में अहिंसात्मक प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है। समाज को सुख और सम्पदा की ओर अग्रसर होने के लिए शान्तिमय अवसर प्राप्त होता है।

बापू ने साध्य की महत्ता के लिए साधन की शुद्धता को को प्रामुख्य दिया है क्योंकि साध्य और साधन, दोनों एक ही सड़क के ओर-छोर हैं। आघात से प्रतिघात, हिंसा से प्रतिहिंसा को ही जन्म मिलता है। इसलिए सुखद, शांतिमय समाज की स्थापना के लिए शुद्ध अहिंसात्मक साधनों का उपयोग अनिवार्य है। खून की नदियाँ बहाकर दुग्धधारा की कल्पना करने वाली समाजवादी या साम्यवादी नीति सरासर आत्मप्रवञ्चना है। गांधीवाद किसी ऐसे गलत तरीके का अनुसरण करता ही नहीं। यहाँ साधन की अकाट्य सत्ता को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। और इसीलिए चर्खात्मक उपायों का विधान किया गया है। इस प्रकार आप देखेंगे कि गांधीवाद कोरी नैतिक कल्पनाओं के सहारे टिका हुआ है, सो बात नहीं। इसकी नींव में एक सर्वांग और सम्पूर्ण वैज्ञानिक योजना है। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि चर्खात्मक उत्पादन में सम्पत्ति

की गुणात्मक वृद्धि नहीं होती, इसलिए स्वभावतः शोषणात्मक प्रवृत्तियों का प्रजनन भी नहीं होता। या यों कि चर्खात्मक व्यवस्था में मानवी मर्यादाओं (स्टैन्डर्ड्स) का एक (ऑटोमेटिक) गतिक्रम मनुष्य मात्र को जीवमान रखता है।

मैंने अभी कहा है कि चर्खात्मक उत्पादन में सम्पत्ति की गुणात्मक वृद्धि नहीं होती, हो नहीं सकती। इसी के ठीक विपरीत कलमय उत्पादन में पूँजी का घनोत्तर केन्द्रीयकरण होता है। और इस पर किसी एक व्यक्ति, एक दल या सरकार के रूप में संघटित एक समुदाय अथवा वर्ग का ही अधिकार होता है। यदि यह आधिपत्य सम्पूर्णतः लोकतंत्रात्मक सरकार का नहीं है तो निश्चित है कि पूँजी के संचालन में निजी स्वार्थों का प्राधान्य रहेगा, अर्थात् सत्ता और स्वत्वाधारियों द्वारा उपभोक्ताओं का शोषण अनिवार्य है। आज विश्व के अधिकांश भाग में जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ भी, स्वत्वों के उपभोग का सर्वसामान्य को स्वतंत्र लाभ प्राप्त नहीं होता। इसमें भी एक प्रकार से शोषण की ही प्रक्रिया पायी जाती है, भले यह स्वामित्व सरकार का ही क्यों न हो। अभिप्राय यह कि मशीनाश्रित उद्योग व्यवस्था में शोषण अर्थात हिंसा का ही प्रामुख्य रहता है। होता यह इसलिए है कि कलमय उत्पादन का प्राथमिक उद्देश्य (प्राइमरी आवजेक्ट) मनुष्य की जीवनोपयोगी आवश्यकताओं पूर्ति नहीं बल्कि विनिमय (एक्सचेंज) है। जीवनावश्यकताओं की पूर्ति को अधिकाधिक द्वितीय (सेकण्डरी) पद ही प्राप्त हो सकता है। विनिमय के द्वारा अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचना जब हमारा लक्ष्य हो जाता है, तो ऐसी अनेकों पेचीदगियां भी उत्पन्न होती हैं जो मनुष्य की तात्कालिक आवश्यकता से सम्बन्ध नहीं रखतीं, और इसलिए समाज के

सुख सम्पदा का कोई सीधा या तात्कालिक हल भी प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। परिणाम यह होता है कि लोग एक दूसरे के सुख-दु:ख के उत्तरदायित्व से वञ्चित हो जाते हैं। एक-दूसरे का शोषण, दूसरे को दबा कर स्वयं सुखी होना, लोगों का निश्चित स्वभाव वन जाता है। आज जापानी गृह-उद्योगों की चर्चा करके हमारा ध्यान उस ओर आकृष्ट करने की कोशिश की जा रही है परन्तु यहाँ मुख्य वातें ध्यान में रखने की ये हैं कि जापान ने वड़ी मशीनों का रूप कुछ इस प्रकार छोटा कर कर दिया है कि उनके लिए वड़े वड़े कारखानों की ज़रूरत न पड़े, यानी वहुत वड़ी जगह और व्यवस्था पर लम्बा चौड़ा खर्च न पड़े। शेष सारी वातें वही हैं जो वड़े कारखानों की होती हैं यानी केन्द्रीकरण, कच्चा माल प्राप्त करना, मशीनों के सामान और कल पुर्जे। यह सब स्ववलम्वी आधार पर स्थित नहीं है। दूसरा वात यह है कि ज़ापान के उत्पादन का उद्देश्य विनिमय द्वारा व्यावसायिक प्रभुत्व प्राप्त करने की है, जीवनावश्यकताओं की पूर्ति अर्थात् गांधी की स्वावलम्वी स्वसम्पन्नता नहीं। इसीलिए गृह-उद्योगों को लेकर भी जापान को उसी रास्ते मरना मिटना पड़ा जिस रास्ते जर्मनी को, या अमेरिका और इङ्गलैण्ड को।

परन्तु चर्खात्मक उत्पादन में ऐसा नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति एक ऐसे यंत्र, एक ऐसे साधन द्वारा उत्पादन कार्य में लगा रहता है जिसमें सम्पत्ति का परिमाण सीमा-बद्ध होने के कारण जीवनावश्यकताओं की पूर्ति हमारा प्राथमिक लक्ष्य वन जाती है। परिणामतः हमें अप्रत्यक्ष विनिमय के स्थान में प्रत्यक्ष लेन-देन पर वाध्य होना पड़ता है। या यों कि पारस्परिक स्वार्थों की पूर्ति ही हमारे जीवन का क्रम वन जाता है। हम यह मानते हैं कि हमें अपने निकटस्थ समाज से वाहर

के लोगों का उत्तरदायित्व भी वहन करना है, परन्तु इसका समाधान हम अपने चर्खात्मक यंत्रों में मर्यादित सुधार के साथ श्रम-विभाजन और कार्य-विभाजन (डिवीजन आव् लेबर और डिवीजन आव् वर्क) द्वारा ही अधिकतर करते हैं। ये अर्थशास्त्र के गहन विषय हैं। यहां मैं केवल इतना ही कहूँगा कि चर्खात्मक उत्पादन में शोषणात्मक के बजाय सामाजिक सामञ्जस्य (सोशल बैलेंस) तथा सम्मिलित व्यवहार (कॉरपोरेट हैबिट्स) का उदय होता है। अर्थात् शोषणात्मक के बजाय रचनात्मक यानी अहिंसात्मक प्राधान्य स्थापित होता है।

चर्खात्मक उत्पादन का दूसरा बड़ा गुण यह है कि समाज के पारस्परिक सहयोग पर निर्धारित होने तथा अपने निकटस्थ वातावरण से सम्बन्ध रखने के कारण वाह्य विघ्न-बाधाओं का इस पर कम से कम प्रभाव पड़ता है। इसीलिए यह क्रान्ति में, युद्ध में, दंगों में, प्रत्येक दशा और प्रत्येक स्थिति में कलमय उत्पादन की अपेक्षा अधिक सुगमता और सफलता के साथ चलता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो चर्खात्मक उत्पादन में अहिंसात्मक प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है, दूसरी ओर यह सामाजिक संतुलन स्थापित करने का एक प्रबल कारण बनता है, यह नहीं कि कुछ मिल और कारखानों को नष्ट करके सम्पूर्ण देश का जीवन खतरे में डाल दिया जाय, या उन पर कब्जा करके सारे देश या समाज को गुलाम बना दिया जाय। और इसीलिए यहाँ वाह्य आक्रमणकारियों के लिए कम से कम प्रलोभन के कारण रह जाते हैं। अतः हमें आन्तरिक और वाह्य, दोनों दिशाओं से शान्ति की ओर प्रेरणा प्राप्त होती है।

कलमय एवं चर्खात्मक उद्योग व्यवस्था के इस तुलनात्मक

विवेचन से स्पष्ट होता है कि गांधीवादी समाज की अर्थनीति एक ऐसी उद्योग व्यवस्था से अनुप्राणित होती है जिसमें यही नहीं कि शोषणात्मक अर्थात् हिंसात्मक प्रवृत्तियों को स्थान नहीं है वल्कि यह भी कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी इसकी प्रगति में व्यवधान नहीं आता।

गांधी जी ने देश को अपने अहिंसात्मक उपायों से ही स्वतंत्रता के पथ पर सफलता पूर्वक आरूढ़ किया था। परंतु खेद यह है कि देश ने उनके रचनात्मक कार्यक्रम को यथेष्ट रूप से अपनाया नहीं। यह गांधी जी का दोष नहीं है। उन्होंने प्रारम्भ से ही हमें रचनात्मक (चर्खात्मक) कार्यों की ओर प्रेरित किया था। देश जिस समय ब्रिटिश सत्ता से मुक्त होने के लिए गांधीजी की छत्रछाया में जीवन-मरण के दाँव लगा रहा था उस समय भी गांधीजी लोगों को खादी और ग्रामोद्योगों की ओर अग्रसर करते रहे। देश व्यापी अखिल भारतीय चर्खा संघ, गांधीजी के उसी संघर्ष काल की देन है। गांधीजी जिस समय आजादी की लड़ाई में व्यस्त थे, ठीक उसी क्षण हमारी हरिजन समस्या को लेकर गांधीजी ने वार-वार अनशन किया। यह उनकी उसी रचनात्मक जागरूकता का दिव्य प्रमाण है। कहने का अभिप्राय यह है कि गांधीजी की प्रेरणाओं के बावजूद हमने रचनात्मक कार्यक्रम की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया है निःसन्देह हमने वहुत कुछ खो दिया है। फिर भी निराश होने के वजाय यदि हमने साहस पूर्वक कलमयता का विनाश-कारी मार्ग वदल दिया तो इतना सब खोकर भी हम एक वार पुनः उन्नति के पथपर अग्रसर हो जायँगें। हाँ, हमें ध्यान में यह अवश्य रखना होगा कि चर्खात्मक मार्ग शुद्ध अहिंसात्मक मार्ग है। इस लिए इसमें शोषणात्मक अर्थात् कलमय अर्थात्

पूँजीवादी स्वच्छंदता की गुन्जाइश नहीं है जिसे अङ्गरेजी में "लैसर फेअर के नाम से प्रचारित किया गया है। यहाँ लोक-संग्रह को ही प्राधान्य मिलता है। लोकसंग्रह और सामाजिक संतुलन, दोनों परापेक्षित (रिलेटिव) शब्द हैं। अतः चर्खात्मक विधान में जीवन मान को असित विस्तार देने के बजाय मर्यादित रखना पड़ता है। प्रकृति का स्वामी बनने की उत्कण्ठा में स्वयं अप्राकृतिक हो जाने वाले मशीन भक्त लोग इस मर्यादा में अपनी निर्बंध उड़ान को बाँध नहीं रखना चाहते और कहते हैं कि चर्खात्मक रास्ते से हम उन्नति के बजाय अवनति पर जा रहे हैं। स्वच्छन्द जीवन व्यापार को ही वे उन्नति का स्वरूप समझ बैठे हैं। यदि हम इस भ्रम से मुक्त होकर अपने इस आपद्ग्रस्त देश को नहीं लेते तो पं० जवाहर लाल और भी हमें विनाश से बचा न सकेंगे।

अब हमें यह समझने में कठिनाई न होगी कि शांति और अहिंसा कोरी नैतिक बातें नहीं, एक सुविकसित समाज शास्त्र पर ही आधृत हैं। अतः सच्ची शांति के लिए हमें फिर से समाज रचना करनी होगी। मास्को और न्यू यार्क की सन्धियों से यह काम नहीं हो सकता। यह ठीक है कलमयी माया में लिपटे विश्व को विकेन्द्रित व्यवस्था अपनाने में कष्ट दीखता है, ठीक उसी प्रकार जैसे वैश्या जीवन की रोमांचकारी घृणा से दूर होने के लिए वैश्या वृत्ति से प्राप्त होनेवाले मखमली गद्दे और विद्युत पूर्ण संगीत लहरी का भ्रामक आह्लाद छोड़ना जरूरी हो जाता है, पर दो में एक को ही पकड़ा जा सकता है। आप जूट की खेती बढ़ाकर अन्नपूर्णा का भण्डार नहीं भर सकते, सूती मिलों के व्यूह में आप चर्खे को जीवित नहीं रख सकते।

शांति तो आपको शांति के ही रास्ते से मिलेगी। शांति का सच्चा रास्ता क्या है, यह पिछले पन्नों से बिल्कुल साफ़ हो गया है। कल्याण इसी में है कि हम शीघ्र इस रास्ते पर आ जायें। हम इस रास्ते पर चलें और स्वयं चलकर दूसरों के लिए नमूना बनें। यह हो नहीं सकता कि हम भारतीय संसद् में गो पालन का उपदेश दें और बम्बई में वनस्पति की मिलों का विधान करें। इस प्रकार केवल शांति का मार्ग अवरुद्ध होगा सो बात नहीं, हमें अपनी दुर्बुद्धि से स्वयं भी विनष्ट हो जाना होगा।

शांतिः शांतिः शांतिः

सर्वोदय साहित्य

(शर्मा जी की कुछ अन्य चुनी हुई पुस्तकें)

१. सर्वोदय—सिद्धांत और मीमांसा १।)

२. नव भारत—गांधीवाद के सर्वांग एवं शास्त्रीय अध्ययन के लिए हिन्दी की एकमात्र अधिकारी रचना ५)

३. युगान्तर (नाटक)—बापू के राम राज की चर्खात्मक अभिव्यक्ति ३)

४. रुपये की समस्या—इस विषय की एक महत्वपूर्ण रचना ।।=)

५. बापू का राम राज—पृष्ठभूमि और व्यावहारिक कार्य-क्रम ।।।)

६. भारत और भोजन—समस्या और समाधान १।।)

सर्वोदय साहित्य संघ,
काशी (बनारस)